मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

द्वैमासिक (संयुक्तांक)
नवम्बर 2020-फ़रवरी 2021
30 रुपये

धनी किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र अब खुलकर सामने आ रहा है

बेरोज़गारी की मार झेलती युवा आबादी • अवसाद के अँधेरे में भटकते युवा

महिला श्रमबल भागीदारी दर में चिन्ताजनक गिरावट

सरकारी शिक्षा पर संकट के बादल • कश्मीर के छात्रों का चौपट होता भविष्य

क्या भारत में धर्मनिरपेक्षता अब सिर्फ़ काग़ज़ पर ही है?

"लव जिहाद" के नाम पर फैलाये गये झूठ से क़ानून निर्माण तक

कोविड-19 के षड्यंत्र सिद्धान्तों का संकीर्ण अनुभववाद और रहस्यवाद की परछाई

किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना

मक्सिम गोर्की के जन्मदिवस (28 मार्च) के अवसर पर

समुद्र की रूपहली सतह के ऊपर
हवा के झोंकों से
तूफ़ान के बादल जमा हो रहे हैं
और बादलों तथा समुद्र के बीच
तूफ़ानी पितरेल चक्कर लगा रहा है
गौरव और गरिमा के साथ, अन्धकार को चीरकर
कौंध जाने वाली विद्युत रेखा की तरह।
कभी वह इतना नीचे उतर आता है
कि लहरें उसके पंखों को दुलराती हैं,
तो कभी तीर की भाँति बादलों को चीरता
और भयानक चीत्कार करता हुआ ऊँचा उठ जाता है,
और बादल उसके साहसपूर्ण चीत्कार में
आनन्दातिरेक की झलक देख रहे हैं।
उसके चीत्कार में तूफ़ान से
टकराने की एक हूक ध्वनित होती है!
उसमें ध्वनित है
उसका आवेग, प्रज्ज्वलित क्षोभ और
विजय में उसका अडिग विश्वास।
गंगाचिल्लियाँ भय से बिलख रही हैं
पानी की सतह पर तीर की तरह उड़ते हुए,
जैसे अपने भय को छिपाने के लिए
समुद्र की स्याह गहराइयों में ख़ुशी से समा जायेंगी।
ग्रेब पक्षी भी बिलख रहे हैं।
संघर्ष के संज्ञाहीन चरम आह्लाद को वे क्या जानें?
बिजली की तड़प उनकी जान सोख लेती है।
बुद्धू पेंगुइन चट्टानों की दरारों में दुबक रहे हैं,
जबकि अकेला तूफ़ानी पितरेल ही
समुद्र के ऊपर
रुपहले झाग उगलती
उफनाती लहरों के ऊपर
गर्व से मँडरा रहा है!
तूफ़ान के बादल
समुद्र की सतह पर घिरते आ रहे हैं
बिजली कड़कती है।
अब समुद्र की लहरें
हवा के झोंको के विरुद्ध
भयानक युद्ध करती हैं,
हवा के झोंके अपनी सनक में उन्हें
लौह-आलिंगन में जकड़ उस समूची
मरकत राशि को चट्टानों पर दे मारते हैं
और वह चूर-चूर हो जाती है।
तूफ़ानी पितरेल पक्षी चक्कर काट रहा है,
चीत्कार कर रहा है
अन्धकार चीरती विद्युत रेखा की भाँति,
तीर की तरह तूफ़ान के बादलों को चीरता हुआ
तेज़ धार की तरह पानी को काटता हुआ।
दानव की तरह, तूफ़ान के काले दानव की तरह
निरन्तर हँसता, निरन्तर सुबकता
वह बढ़ा जा रहा है - वह हँसता है
तूफ़ानी बादलों पर और सुबकता है आनन्दातिरेक से!
बिजली की तड़क में चतुर दानव
पस्ती के मन्द स्वर सुनता है।
उसका विश्वास है कि बादल
सूरज की सत्ता को मिटा नहीं सकते,
कि तूफ़ान के बादल सूरज की सत्ता को
कदापि, कदापि नहीं मिटा सकेंगे।
समुद्र गरजता है; बिजली तड़कती है
समुद्र के व्यापक विस्तार के ऊपर
तूफ़ान के बादलों में काली-नीली बिजली कौंधती है,
लहरें उछलकर विद्युत अग्निबाणों को
दबोचती और ठण्डा कर देती हैं,
और उनके सर्पिल प्रतिबिम्ब,
हाँफते और बुझते समुद्र की गहराइयों में समा जाते हैं।
तूफ़ान! जल्द ही तूफ़ान टूट पड़ेगा!
फिर भी तूफ़ानी पितरेल पक्षी गर्व के साथ
बिजली की कौंधों के बीच गरजते-चिंघाड़ते
समुद्र के ऊपर मँडरा रहा है
और उसके चीत्कार में
चरम आह्लाद की प्रतिध्वनि है -
विजय की भविष्यवाणी की तरह
आये तूफ़ान,
अपनी पूरी सनक के साथ आये।

(अनुवाद 'युयुत्सा', मई-जून 1968 के अंक से साभार)

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहास-बोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➢ 'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

पाठक मंच 2

अपनी ओर से

धनी किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र अब खुलकर सामने आ रहा है 3

अर्थ जगत

बेरोज़गारी की मार झेलती युवा आबादी 8

भारत में महिला श्रमबल भागीदारी दर में चिन्ताजनक गिरावट 11

शिक्षा जगत

मेडिकल की पढ़ाई पर फ़ीस बढ़ोत्तरी के रूप में हरियाणा सरकार का बड़ा हमला 44

सरकारी शिक्षा पर चौतरफ़ा संकट के बादल 45

कश्मीर के छात्रों का चौपट होता भविष्य 47

सामयिकी

मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना 20

साम्प्रदायिक-फ़ासीवादियों ने "लव जिहाद" के नाम पर फैलाये जा रहे झूठ को पहुँचाया क़ानून निर्माण तक 40

जनता को गाय के नाम पर कुत्सित राजनीति नहीं बल्कि शिक्षा-इलाज और रोज़गार चाहिए! 43

क्या भारत में धर्मनिरपेक्षता अब सिर्फ़ काग़ज़ पर ही है? 48

मौजूदा किसान आन्दोलन में भागीदारी को लेकर ग्राम पंचायतों और जातीय पंचायतों का ग़ैर-जनवादी रवैया 50

ग्रेटर हैदराबाद नगर निगम चुनाव के नतीजे: तेलंगाना व आन्ध्र में संघी फ़ासीवादी राजनीति की छलाँग के संकेत 51

क्या हिरासत में होने वाली यातनाओं को रोकने के लिए सीसीटीवी कैमरे पर्याप्त हैं? 54

विश्व पटल पर

साम्राज्यवादी ताकतों की छाया में अज़रबैजान और आर्मेनिया का युद्ध 55

विमर्श

कोविड-19 के षड्यंत्र सिद्धान्तों का संकीर्ण अनुभववाद और रहस्यवाद की परछाई 13

अवसाद के अँधेरे में भटकते युवा 16

विरासत

आधुनिक भारत की प्रथम शिक्षिका और महान सुधारक सावित्रीबाई फुले की विरासत को आगे बढ़ाओ! 63

गतिविधियाँ 57

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

वर्षः 13 अंकः 3-4 (संयुक्तांक)

नवम्बर 2020-फ़रवरी 2021

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य: **30 रुपये**

वार्षिक सदस्यता: **160 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **320 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **750 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2,000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 09999750940

ईमेलः ahwan.editor@gmail.com **वेबसाइटः ahwanmag.com** **फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan**

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

मैं आह्वान पत्रिका पिछले तीन वर्षों से पढ़ रहा हूँ। 2019 में मोदी सरकार की पुनः वापसी के बाद जनता पर हमले और तेज़ हो गए हैं। आज जहाँ एक तरफ मुख्य धारा की मीडिया मोदी सरकार के झोली में खेल रही है, वहीं आह्वान जैसी पत्रिका जनता के बीच राजनीतिक, आर्थिक, समाजिक विचारों को पूरी जनपक्षधरता के साथ जनता के बीच में ले जाने का काम कर रही है।

कोरोना के कारण जहाँ एक तरफ आम जनता के सामने रोजी-रोटी की दिक्कत पैदा हो गई, वहीं दूसरी तरफ मोदी सरकार ने आपदा को अवसर बदलने का कोई मौका नहीं छोड़ा। इसे आह्वान पत्रिका के जुलाई-अक्टूबर 2020 अंक में अविनाश के लेख "फ़ासिस्टों ने किस तरह आपदा को अवसर में बदला" से समझा जा सकता है। इसी अंक में प्रकाशित सनी की लेख "धरती पर जीवन का उद्भव और उद्विकास (इवोल्यूशन)" में धरती पर जीवन का विकास कैसे हुआ बहुत अच्छा लगा। आह्वान पत्रिका के पिछले अंक में 'कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया' लेख आँखे खोलने और नज़रिए को साफ़ करने वाला था।

आज जब पूरा विश्व एक सतत मन्दी के दौर से गुजर रहा है और भारत समेत तीसरी दुनिया के देश इसके और ज़्यादा मार खा रहे हैं, छात्र-युवा बेरोज़गारी से परेशान हैं। संघ परिवार जाति-धर्म के नाम बँटवारे की राजनीति को और तेज़ कर रहा है। ऐसे दौर में आह्वान जैसी पत्रिका के और नियमित होने की ज़रूरत है। मेरा संपादक महोदय से आग्रह है कि वे आह्वान पत्रिका हर महीने निकलने का प्रयास करें।

– धर्मराज, एमए प्रथम वर्ष,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इस समय देश के छात्रों-युवाओं के भारी हिस्से में संघी प्रचार का असर फैला हुआ है। इस ज़हर की काट के लिए 'आह्वान ' जैसी पत्रिका को बड़े पैमाने पर छात्रों-युवाओं के बीच ले जाने की ज़रूरत है।

– अनिमेष, छात्र, लखनऊ

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू, वाराणसी • प्रसेन, इलाहाबाद, फ़ोन: 8115491369

दिल्ली : • योगेश, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस, लता, जू.एन.यू., फ़ोन: 8800105101

बिहार : • विक्रान्त कुमार, द्वारा, हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, ज़िला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, ज़िला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग़, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, वाया इस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर

हरियाणा : • शहीद-ए-आज़म लाईब्रेरी, गोल मार्केट, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी रेलवे रोड़, नरवाना, ज़िला-जींद • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक • अजय, जींद, फ़ोन: 8685030984 • अरविन्द, रोहतक, फ़ोन: 8010156365

पंजाब : • अवतार सिंह, मकान नं. 19041, गली नं. 14, बीबी वाला रोड, बठिण्डा, 151001, फ़ोन: 9501070001 • इनजिन्दर सिंह, शिवम कालोनी, गली नं. 5, संगरूर, फ़ोन: 9888080820 • दीपक शर्मा, मकान नं. 30, गुरुद्वारा खुही-सर, गली नं. 3, सतजोत नगर, ढांढरा रोड, लुधियाना-141116 • बलतेज, पंजाब युनिवर्सिटी, चंडीगढ़, फ़ोन: 9855022508

हिमाचल प्रदेश : • वृषाली द्वारा चेतन गुप्ता, जनरल मर्चेंट एंड ट्रांसपोर्ट एजेंट, टुटू, शिमला-171011, फ़ोन: 9582712837

महाराष्ट्र : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू, कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्टी, अजनी रोड, नागपुर

मध्यप्रदेश : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

हिमाचल प्रदेश : • वृषाली (शिमला), फ़ोन: 9582712837 • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, ज़िला-मण्डी

उत्तराखण्ड : • अपूर्व, (देहरादून), फ़ोन: 7042740669 • वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल, द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल, देहरादून

जम्मू : • श्री पुरुषोत्तम, लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

छत्तीसगढ़ : • शेख अंसार, रायपुर व राजनांदगाँव, फ़ोन: 9993233537 • जैनेन्द्र ठाकुर, रायपुर, फ़ोन: 9009755117 • श्री देवांशु पाल, सं. 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, बिलासपुर

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' के नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वेबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सऐप पर भी पा सकते हैं। इसके लिए आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सऐप से इस पर मैसेज भेजना होगा। विभिन्न विषयों पर 'आह्वान' की ओर से प्रस्तुत सामग्री के लिए हमारा फ़ेसबुक पेज भी फ़ॉलो करें: @muktikamiahwan

धनी किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र अब खुलकर सामने आ रहा है

'आह्वान' के पाठक जानते हैं कि पिछले चार महीनों से जारी किसान आन्दोलन के बारे में हमारा दृष्टिकोण उन तमाम लोगों से एकदम अलग रहा है जो इसे देश के आम किसानों-मज़दूरों-मेहनतकशों का आन्दोलन मानते हैं और इससे संघी फ़ासीवाद पर चोट करने की उम्मीदें लगाये बैठे हैं। हमने पत्रिका के पिछले अंक में और हमारे ऑनलाइन पेजों पर लगातार इस विषय में विस्तार से लिखा है।

हम शुरू से कहते रहे हैं कि मौजूदा किसान आन्दोलन धनी किसानों-कुलकों-फ़ार्मरों का आन्दोलन है, इसका नेतृत्व इन्हीं वर्गों के हाथों में और इसकी माँगें उन्हीं के वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं। आन्दोलन में ग़रीब और निम्न-मध्यम किसानों की भी भागीदारी से यह तय नहीं होता कि यह उनका आन्दोलन है। इसकी मुख्य माँग लाभकारी मूल्य (न्यूनतम समर्थन मूल्य या एमएसपी) की है जो देश के तमाम मेहनतकशों और ग़रीब किसानों के हितों के ख़िलाफ़ है। लाभकारी मूल्य की माँग मूलत: और मुख्यत: धनी कि सानों-कुलकों और उच्च मध्यम कि सानों की ही माँग है। यह देश की जनता से निचोड़े गये कुल बेशी मूल्य (यानी मुनाफ़े) के बँटवारे में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए धनी और उच्च-मध्यम किसानों की लड़ाई है जो वह कॉरपोरेट पूँजी, यानी बड़े एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग से लड़ रहे हैं, जिसके पक्ष में मोदी सरकार एक वफ़ादार सेवक की तरह खड़ी हुई है।

जब हम कहते हैं कि इस आन्दोलन का मकसद केवल लाभकारी मूल्य को बचाना है, जिससे कि धनी किसान-कुलक वर्ग को मिलने वाला बेशी मुनाफ़ा, यानी मुनाफ़े की औसत दर से ऊपर मिलने वाला मुनाफ़ा, सुनिश्चित हो सके, तो इस आन्दोलन के तमाम समर्थक हम पर टूट पड़ते हैं। इनमें लिबरल-लेफ़्ट, लेफ़्ट-लिबरल, क़ौमवादी "मार्क्सवादी", सोशल मीडिया पर सक्रिय और आन्दोलन से कटे हुए कुछ निष्क्रिय बुद्धिजीवी और कुछ अन्य हताशा-निराशा के शिकार कम्युनिस्ट संगठन शामिल हैं, जिन्हें लगता है कि सर्वहारा वर्ग ख़ुद तो फ़ासीवाद से लड़ नहीं पा रहा है, तो चलो तब तक धनी किसानों के आन्दोलन का ही पिछलग्गू बन लिया जाये। इनमें से कुछ का कहना था कि किसान आन्दोलन तीनों कृषि क़ानूनों को वापस करवाकर ही मानेगा, वह केवल लाभकारी मूल्य की लड़ाई नहीं लड़ रहा है। लेकिन अब तो इन सबके नये "क्रान्तिकारी" नायकों, जोगिन्दर सिंह उग्राहां (भारतीय किसान यूनियन एकता-उग्राहां के नेता) और दर्शन पाल (क्रान्तिकारी किसान यूनियन के नेता) ने ही स्पष्ट कर दिया है कि उनके लिए मूल मुद्दा लाभकारी मूल्य का ही है और अगर यह बच जाये, तो बाक़ी मुद्दों पर वे पीछे हटने, समझौता करने को तैयार हैं।

पिछले 9 मार्च को न्यूज़पोर्टल 'न्यूज़क्लिक' को दिये साक्षात्कार में जोगिन्दर सिंह उग्राहां ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अगर सरकार केवल एपीएमसी (मण्डी समिति) से जुड़े क़ानून, यानी लाभकारी मूल्य से जुड़े क़ानून को वापस ले ले और बाक़ी दो क़ानूनों को बस 'ऑन-होल्ड' रख दे, यानी फ़िलहाल के लिए टाल दे, तो वे समझौता करने को तैयार हैं और इसके लिए वे अपने काडर

को भी रज़ामन्द कर लेंगे!

पहले क़ानून की वापसी पर जोगिन्दर सिंह उग्राहां ने ज़ोर सिर्फ़ इसलिए दिया है क्योंकि यही वह क़ानून है जो कि खेतिहर पूँजीपति वर्ग के लाभकारी मूल्य को प्रभावित करता है। वह ख़ुद इस बात को साक्षात्कार में मान भी रहे हैं और कहते हैं कि सिर्फ़ पहले क़ानून की वापसी पर ज़ोर इसलिए क्योंकि वह मण्डियों व लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को प्रभावित करता है। दूसरे क़ानून को भी वह लाभकारी मूल्य के तंत्र के लिए एक ख़तरा मानते हैं और इसलिए दूसरे नम्बर पर उसे वापस लेने पर ज़ोर देते हैं, लेकिन तीसरे क़ानून, यानी आवश्यक वस्तु सम्बन्धी क़ानून को वे सिर्फ ऑन होल्ड रखे जाने पर समझौता करने को तैयार हैं! कोई विकल्प न होने पर वह दूसरे क़ानून को भी केवल ऑन-होल्ड रखने पर समझौता करने को तैयार हैं!

अब ज़रा याद करिये कि जब सरकार ने तीनों क़ानूनों को 'ऑन-होल्ड' रखने का प्रस्ताव रखा था तो इन्हीं कुलक नेताओं ने कहा था कि इसके ज़रिये सरकार बस आन्दोलन के दबाव से मुक्त होकर कुछ वक्त ख़रीदना चाहती है, ताकि बाद में उन क़ानूनों को लागू किया जा सके और वह जानती है कि फिर से ऐसा आन्दोलन खड़ा करना इतना आसान नहीं होगा। क्या यह बात आज नहीं लागू होती है? यदि हाँ, तो इसका अर्थ यह है कि ये कुलक नेता जानते हैं कि सरकार अगर लाभकारी मूल्य सम्बन्धी क़ानून वापस ले ले और बाक़ी दो क़ानूनों को होल्ड पर रख दे, या लाभकारी मूल्य व ठेका खेती सम्बन्धी क़ानूनों को वापस ले ले, और आवश्यक वस्तु सम्बन्धी तीसरे क़ानून को ऑन होल्ड रख दे, तो फिर कालान्तर में सरकार होल्ड पर रखे हुए क़ानूनों को लागू करेगी ही! और ऐसा जानते हुए भी यदि वे तीसरे क़ानून को बस ऑन होल्ड रखे जाने पर समझौता करने को तैयार हैं, तो स्पष्ट है कि वे तीसरे क़ानून की वापसी को लेकर कभी गम्भीर नहीं थे।

तीसरे क़ानून को होल्ड पर रखने की माँग पर भी उग्राहां जैसे कुलक नेता इसीलिए अड़ रहे हैं ताकि अब जनता और अपने काडर के सामने अपनी इज्जत बचा सकें। वास्तव में, अतीत में ख़ुद धनी किसान-कुलक-आढ़ती आवश्यक वस्तु अधिनियम को समाप्त करने की बातें करते रहे हैं क्योंकि वे लाभकारी मूल्य, उस पर मिलने वाले कमीशन के साथ ही जमाख़ोरी और कालाबाज़ारी से भी मुनाफ़ा पीटना चाहते हैं। इन्होंने तो मनरेगा को भी ख़त्म करने को कहा था क्योंकि इससे खेतिहर मज़दूरों की औसत मज़दूरी बढ़ रही थी।

पहले क़ानून की वापसी पर जोगिन्दर सिंह उग्राहां ने ज़ोर सिर्फ़ इसलिए दिया है क्योंकि यही वह क़ानून है जो कि खेतिहर पूँजीपति वर्ग के लाभकारी मूल्य को प्रभावित करता है।... दूसरे क़ानून को भी वह लाभकारी मूल्य के तंत्र के लिए एक ख़तरा मानते हैं और इसलिए दूसरे नम्बर पर उसे वापस लेने पर ज़ोर देते हैं, लेकिन तीसरे क़ानून, यानी आवश्यक वस्तु सम्बन्धी क़ानून को वे सिर्फ ऑन होल्ड रखे जाने पर समझौता करने को तैयार हैं!

लेकिन जब सरकार एक साथ ये तीन क़ानून लेकर आयी, तो उनके सामने स्पष्ट था कि केवल पहले या केवल दो क़ानूनों को वापस लेने की माँग करना कुलकों के राजनीतिक नेतृत्व के वर्ग चरित्र को जनता के सामने स्पष्ट कर देगा। इसलिए इस आन्दोलन की विचारधारात्मक और राजनीतिक ज़रूरत थी कि तीसरे क़ानून पर कोई विशेष एतराज़ न होते हुए भी तीनों क़ानूनों को ही वापस लेने की माँग उठायी जाये। यही बात तमाम भोले, मूर्ख या भोले बनने का स्वांग रच रहे कई कम्युनिस्ट नहीं समझ पाये। संशोधनवादियों, लिबरलों आदि से तो वैसे भी इसकी कोई उम्मीद नहीं थी।

धनी किसान आन्दोलन के नेतृत्व के सामने अपने लक्ष्य और उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हैं, और वह है, लाभकारी मूल्य को बचाना। अब तक वह इस बात को खुलकर बोल नहीं रहा था। लेकिन इस समय यह आन्दोलन गिरावट के दौर में है, चाहे इस बात को कोई माने या न माने, और अब यह बात भी कुलक नेतृत्व को खुले तौर पर माननी पड़ रही है क्योंकि वे सरकार को सन्देश देना चाहते हैं कि वे तीनों क़ानूनों की वापसी पर अड़ने के अप्रोच को छोड़ने को तैयार हैं, बशर्ते कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को सरकार डिस्टर्ब न करे। सच यही है, किसी को अच्छा लगे या बुरा। लेकिन अब मोदी सरकार वार्ता के लिए पंजाब के कुलक नेतृत्व को आमंत्रित नहीं कर रही है। राकेश टिकैत के नेतृत्व में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुलक-धनी किसानों की जुटान आन्दोलन के केन्द्र में आ गयी है, या ला दी गयी है। राकेश टिकैत ने "प्रधानमन्त्री की गरिमा क़ायम रखने" का वायदा किया है और उसके भाई नरेश टिकैत ने "आन्दोलन की सफलता के लिए" अयोध्या जाकर रामलला के आगे मत्था भी टेक दिया है।

ज़ाहिर है कि आन्दोलन के केन्द्र में अगर टिकैत आ जाये और मोदी सरकार उसके साथ वार्ता

कर कोई समझौता कर ले, तो पंजाब के कुलक आन्दोलन और उसके नेतृत्व का भारी नुकसान होगा और पंजाब के खेतिहर बुर्जुआ वर्ग के सारे उद्देश्य पूरे नहीं होंगे। साथ ही, इस नेतृत्व की ज़मीन अपने इलाक़ों में भी कमज़ोर पड़ेगी। इसीलिए भारतीय किसान यूनियन के नेता गुरनाम सिंह चढ़ूनी ने टिकैत से कहा था कि आप उत्तर प्रदेश व अन्य राज्यों में खेती क़ानूनों के बारे में पंचायतें करिये, आपको पंजाब और हरियाणा में आकर पंचायतें करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि पंजाब और हरियाणा में तो इसे लेकर बहुत जागरूकता है। इस सबके चलते इस समय पंजाब के कुलक-धनी किसान आन्दोलन में अन्दर ही अन्दर निराशा और खलबली है। यही कारण है कि इसका "कोई समझौता नहीं" वाला नेतृत्व समझौता करने के लिए सारे संकेत दे रहा है। लेकिन मोदी सरकार अब उसे भाव ही नहीं दे रही है।

इन सब बातों के मद्देनज़र जोगिन्दर सिंह उग्राहां का बयान एकदम स्पष्ट है। समझौता करने और जल्द से जल्द समझौता करने की खलबली उनके नेतृत्व में बढ़ रही है। दिक्कत यह है कि उग्राहां समेत अन्य तमाम अन्य कुलक यूनियनों के नेताओं ने पहले ही आन्दोलन में शामिल धनी व उच्च-मध्यम किसानों के बीच एक ऐसा माहौल बना दिया है कि तीन क़ानूनों की वापसी से कम किसी माँग पर नहीं मानना है। उग्राहां ने उपरोक्त साक्षात्कार में ख़ुद माना है कि स्वयं कुलक नेताओं द्वारा "कोई समझौता नहीं" का जो माहौल बनाया गया है, उसके कारण काडर को किसी बीच के समझौते पर राज़ी करना मुश्किल है, लेकिन उग्राहां ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अगर लाभकारी मूल्य को प्रभावित करने वाला क़ानून वापस हो जाता है तो वे अपने कुलक काडर को समझौते के लिए राज़ी करने में सक्षम हो जायेंगे।

यह भी सच है कि आन्दोलन में शामिल खालिस्तानी तत्वों के नेतृत्व की ओर से पूरे कुलक आन्दोलन पर काफी दबाव है। लेकिन जोगिन्दर सिंह उग्राहां ने 26 जनवरी की घटना के बाद खालिस्तानियों और सिख धार्मिक कट्टरपंथी ताक़तों पर जो स्टैण्ड लिया है, वह बदला हुआ नज़र आ रहा है। वही जोगिन्दर सिंह उग्राहां जिन्होंने 26 जनवरी की घटना के बाद कहा था कि आन्दोलन में धार्मिक व अलगाववादी ताक़तों को हाशिये पर डालना चाहिए था, जिसमें देरी के कारण ही 26 जनवरी की घटना घटी, अब मौजूदा साक्षात्कार में खालिस्तानियों के बारे में उनके स्वर में कोई आक्रामकता नहीं है, उल्टे वह कह रहे हैं कि सिर्फ़ खालिस्तानी ही नहीं वे भी सिख समुदाय से आते हैं और कोई डरपोक नहीं हैं। वह क्या कहते हैं: "वे (खालिस्तानी) हमसे बोलते हैं, 'दूध लो, पानी लो, लेकिन तीन क़ानूनों की वापसी करवाये बिना दिल्ली से वापस आने की हिम्मत मत करना।' एक ने तो एक साक्षात्कार में यह भी कहा कि अगर हम तीनों क़ानूनों को वापस करवाये बग़ैर वापस आये तो हमारा भी वही हश्र होगा जो (अकाली दर अध्यक्ष) संत लोंगोवाल का हुआ था (जिनका केन्द्र के साथ पंजाब समझौता करने के लिए कत्ल कर दिया गया था)। हम भी सिख समुदाय से आते हैं। हम डरपोक नहीं हैं।"

समझौता करने और जल्द से जल्द समझौता करने की खलबली उनके नेतृत्व में बढ़ रही है। दिक्कत यह है कि उग्राहां समेत अन्य तमाम अन्य कुलक यूनियनों के नेताओं ने पहले ही आन्दोलन में शामिल धनी व उच्च-मध्यम किसानों के बीच एक ऐसा माहौल बना दिया है कि तीन क़ानूनों की वापसी से कम किसी माँग पर नहीं मानना है।

ज़ाहिर है, खालिस्तानियों से न डरने का वास्ता देने के लिए कोई कम्युनिस्ट अपनी धार्मिक पहचान को आगे नहीं करेगा बल्कि कम्युनिस्टों ने ही खालिस्तानियों के ख़िलाफ़ संघर्ष में कैसी वीरता की मिसालें क़ायम की थीं, उनकी बात करेगा। यह ग़ौरतलब है कि खालिस्तानियों की धमकी के जवाब में जोगिन्दर सिंह उग्राहां को सिख धार्मिक पहचान का सहारा लेना पड़ रहा है। राजनीतिक संघर्ष में चाहे कुछ भी हो, यहाँ पर खालिस्तानियों ने उग्राहां से विचारधारात्मक लड़ाई तो जीत ही ली।

अब आते हैं 'द हिन्दू' में छपी दूसरी ख़बर पर। पिछले 5 मार्च को प्रकाशित इस ख़बर में संयुक्त किसान मोर्चा के एक प्रमुख नेता दर्शन पाल का बयान है, जिसमें दर्शन पाल ने साफ़ शब्दों में स्वीकार किया गया है कि आन्दोलन के नेतृत्व ने रणकौशलात्मक तौर पर सारी चीज़ों का सही मूल्यांकन नहीं किया था, जिसके कारण एक "कोई समझौता नहीं" का अप्रोच आन्दोलन में शामिल काडर और किसान समुदाय में भी चला गया है और अब इस अप्रोच से पीछे हटना आन्दोलन के नेतृत्व के लिए बहुत मुश्किल हो गया है। ख़बर का लिंक लेख के अन्त में दिया गया है।

दर्शन पाल ने कहा है कि आन्दोलन को "ज़िद्दी रवैया नहीं अपनाना चाहिए"। वह कहते हैं कि लोगों में नेतृत्व ने ख़ुद ही उम्मीदें बढ़ा दीं, जिसके कारण अब नेतृत्व के लिए पीछे हटना मुश्किल हो गया है! उनका कहना है कि आन्दोलन को लाभकारी मूल्य के मुद्दे समेत सभी मुद्दों पर और विस्तार से चिन्तन करके यह मूल्यांकन करना चाहिए कि वे ज़्यादा से ज़्यादा क्या हासिल कर सकते हैं और उसके अनुसार वार्ता में हर सवाल पर एक लचीला रवैया रखना चाहिए।

यह बयान काफी महत्वपूर्ण है और यह दिखलाता है कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं है, बल्कि शासक वर्ग के ही कनिष्ठ साझीदार का आन्दोलन है। यही वजह था कि उसके पास ऐसे संसाधन हैं, जिनका ज़िक्र बार-बार किया जाता है; यही कारण है कि मोदी सरकार ने इसके प्रति वह रवैया नहीं अपनाया जो कि पूँजीवादी व्यवस्था और विशेष तौर पर फ़ासीवादी सरकारें मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता के आन्दोलनों पर अपनाती हैं। यह बयान और साथ ही जोगिन्दर सिंह उग्राहां के ऊपर दिये बयान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शासक वर्ग के एक हिस्से के रूप में राजनीतिक बर्ताव करते हुए, मौजूदा आन्दोलन का नेतृत्व सरकार के साथ "माण्डवली" के लिए तैयार हो रहा है और इस प्रक्रिया में लाभकारी मूल्य को छोड़कर अन्य माँगों पर "लचीला रवैया" अपनाने को तैयार है। शासक वर्ग के प्रतिनिधियों से आप इसी तरह के अप्रोच और रवैये की उम्मीद कर सकते हैं।

कुछ निष्क्रिय परिवर्तनवादी बुद्धिजीवी और सोशल मीडिया पर सक्रिय लेखक पत्रकार हम पर यह आरोप लगा रहे हैं कि हम कॉरपोरेट घरानों के समर्थक हैं क्योंकि हम धनी किसानों-कुलकों की माँग का समर्थन नहीं कर रहे हैं! वे दावा करते हैं कि हम किसानों के तबाह होने पर ताली बजा रहे हैं, जो कि सही कम्युनिस्ट कार्यदिशा नहीं है। हम पहले ही इन मूर्खतापूर्ण आरोपों का खण्डन कर चुके हैं। वास्तव में, इन लोगों के पास कोई तार्किक जवाब नहीं बचा है, इसलिए वे झूठे आरोप गढ़ रहे हैं। जब किसानों के बरबाद होने की बात होती है, तो यह पूछना पड़ेगा कि कौन-से किसान की बरबादी? ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों की बरबादी तो पहले ही उन धनी किसानों-कुलकों-आढ़तियों की मुनाफाख़ोरी और सूदख़ोरी के कारण हो रही थी, जिनकी माँगों को लेकर मौजूदा धनी किसान आन्दोलन चल रहा है। हम बड़ी पूँजी के हाथों बरबाद होने वाली छोटी पूँजी (खेतिहर बुर्जुआ वर्ग) को बचाने का नारा भला क्यों देंगे?

दूसरी बात, बड़ी पूँजी के प्रवेश से ग़रीब किसानों व निम्न-मँझोले किसानों के उजड़ने की रफ्तार में कोई गुणात्मक अन्तर आयेगा, इसका कोई ठोस या आनुभविक प्रमाण मौजूद नहीं है। बस फ़र्क इतना आयेगा कि उन्हें लूटने वाले प्रमुख वर्ग में धनी किसानों-कुलकों (खेतिहर पूँजीपति वर्ग) की जगह कालान्तर में मुख्य तौर पर बड़ी पूँजी आ जायेगी, जबकि खेतिहर पूँजीपति वर्ग इस लूट के कनिष्ठ साझीदार की भूमिका में आ जायेगा और कई जगहों पर बड़ी इज़ारेदार पूँजी द्वारा सहयोजित कर लिया जायेगा, जैसा कि कई उन्नत पश्चिमी देशों में हुआ है।

जब किसानों के बरबाद होने की बात होती है, तो यह पूछना पड़ेगा कि कौन-से किसान की बरबादी? ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों की बरबादी तो पहले ही उन धनी किसानों-कुलकों-आढ़तियों की मुनाफाख़ोरी और सूदख़ोरी के कारण हो रही थी, जिनकी माँगों को लेकर मौजूदा धनी किसान आन्दोलन चल रहा है।

तीसरी बात, ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों की माँगें धनी किसानों से भिन्न हैं। (इन माँगों के बारे में पाठक नीचे दिये गये लिंक पर जाकर 'मज़दूर बिगुल' अख़बार में प्रकाशित 'आह्वान' के सम्पादक अभिनव सिन्हा की टिप्पणी पढ़ सकते हैं।) हम यह भी बता चुके हैं कि धनी किसान-कुलक इन माँगों का विरोध करते हैं। ऐसे में, सर्वहारा वर्ग सभी किसानों की तबाही पर निश्चित ही ताली नहीं बजायेगा और ग़रीब किसानों व निम्न-मँझोले किसानों की माँगों के लिए लड़ने के वास्ते उन्हें संगठित करने का प्रयास भी करेगा। लेकिन बड़ी पूँजी के हाथों धनी किसानों-कुलकों के उजड़ने पर भला वह क्यों छाती पीटेगा?

लेकिन इतिहास सबसे बड़ा पंच होता है। जोगिन्दर सिंह उग्राहां और दर्शन पाल के उपरोक्त बयानों ने उन बातों को बिला शक़ सही साबित किया है जो कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन के विषय में हम शुरू से कहते आ रहे हैं : यह लाभकारी मूल्य पर केन्द्रित आन्दोलन है; लाभकारी मूल्य धनी किसानों व कुलकों की माँग है और आम मेहनतकश ग़रीब आबादी के ख़िलाफ़ जाती है; शहरी और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और ग़रीब व निम्न-मँझोले किसान वर्ग का इससे कोई फ़ायदा नहीं बल्कि नुकसान है; सार्वजनिक वितरण प्रणाली का लाभकारी मूल्य की व्यवस्था से कोई

कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है; कारपोरेट पूँजी के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी धनी किसानों-कुलकों व आम तौर पर छोटे पूँजीपति वर्ग की पालकी का कहार नहीं बनेगी, बल्कि मज़दूरों और मेहनतकश ग़रीब किसानों का राजनीतिक रूप से स्वतंत्र अपना आन्दोलन खड़ा करना होगा। धनी किसानों-कुलकों की माँगों का समर्थन न करने का यह अर्थ निकालना कि आप कॉरपोरेट पूँजी का समर्थन कर रहे हैं, हद दर्जे के सुधारवादी, नरोदवादी और संशोधनवादी सड़ांध से ग्रस्त दिमाग़ की ही उपज हो सकती है।

ऐसे नरोदवादियों, संशोधनवादियों और सुधारवादियों की पूरी सोच वस्तुगत तौर पर दलित-विरोधी भी है। यह सच्चाई सभी जानते हैं कि पंजाब और हरियाणा और साथ ही पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी जाट फ़ार्मर व कुलक आज इन प्रदेशों में खेतिहर मज़दूरों के प्रमुख दमनकर्ता वर्ग हैं, जिनमें कि दलित आबादी का प्रतिशत सबसे ज़्यादा है। इन दलित मज़दूरों की श्रमशक्ति का दोहन करके ही इन वर्गों द्वारा वह बेशी मूल्य निचोड़ा जाता है जो फिर मुनाफ़े, लगान व सूद के रूपों में इन वर्गों के कुलकों-फ़ार्मरों, सूदखोरों व आढ़तियों में बँटता है, जो कि अक्सर एक ही व्यक्ति होते हैं। कुछ समय पहले इनमें से कई नरोदवादी, संशोधनवादी और सुधारवादी तो राकेश टिकैत का गुणगान करने लगे थे जो कि दलितों के प्रमुख दमनकारी वर्ग का राजनीतिक प्रतिनिधि होने के साथ-साथ पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुसलमान-विरोधी साम्प्रदायिकता फैलाने वाली प्रमुख शक्ति भी है। ग़ौरतलब है कि नरेश टिकैत द्वारा राम मन्दिर जाकर किसान आन्दोलन की सफलता के लिए पूजा करने की भी किसी कुलक-धनी किसान संगठन ने मुखर रूप से निन्दा नहीं की और न ही संशोधनवादी, नरोदवादी और सुधारवादी कचरे से गन्धाते दिमाग वाले निष्क्रिय "वामपंथी" बुद्धिजीवियों ने इस पर कुछ बोला। यह भी धनी किसान-कुलक आन्दोलन की गोद में बैठने के लिए आतुर इन तमाम लोगों के निकृष्ट कोटि के अवसरवाद को बेनक़ाब कर देता है।

कॉरपोरेट पूँजी के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी धनी किसानों-कुलकों व आम तौर पर छोटे पूँजीपति वर्ग की पालकी का कहार नहीं बनेगी, बल्कि मज़दूरों और मेहनतकश ग़रीब किसानों का राजनीतिक रूप से स्वतंत्र अपना आन्दोलन खड़ा करना होगा।

लिंक :

जोगिन्दर सिंह उग्राहां का इण्टरव्यू: newsclick.in/repeal-one-law-putting-hold-other-two-have-shift-delhi-Joginder-singh-ugrahan

दर्शन पाल का बयान: thehindu.com/news/national/skm-leader-hints-at-nuanced-stand-on-demands/article34000088.ece

क्या सारे किसानों के हित और माँगें एक हैं? : mazdoorbigul.net/archives/14269

ज़रूरत है निरन्तर संघर्ष करने, कष्ट सहने और क़ुर्बानी भरा जीवन बिताने की। अपना व्यक्तिवाद पहले ख़त्म करो। व्यक्तिगत सुख के सपने उतारकर एक ओर रख दो और फिर काम शुरू करो। इंच-इंच कर आप आगे बढ़ेंगे। इसके लिए हिम्मत, दृढ़ता और बहुत मज़बूत इरादे की ज़रूरत है। कितने ही भारी कष्ट-कठिनाइयाँ क्यों न हों, आपकी हिम्मत न काँपे। कोई भी पराजय या धोखा आपका दिल न तोड़ सके। कितने भी कष्ट क्यों न आयें, आपका क्रान्तिकारी जोश ठण्डा न पड़े। कष्ट सहने और क़ुर्बानी करने के सिद्धान्त से आप सफलता हासिल करेंगे और यह व्यक्तिगत सफलताएँ क्रान्ति की अमूल्य सम्पत्ति होगी।

– शहीद भगतसिंह (क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा)

अर्थ-जगत

बेरोज़गारी की मार झेलती युवा आबादी

अविनाश

निजी मालिकाने पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था अपनी स्वाभाविक गति से समाज में एक तरफ़ कुछ लोगों के लिए विलासिता की मीनारें खड़ी करती जाती है तो दूसरी ओर करोड़ों-करोड़ छात्रों समेत आम आबादी को गरीबी और भविष्य की अनिश्चितता के अँधेरे में ढकेलती है। मुनाफ़ा पूँजीवादी व्यवस्था की चालक शक्ति होती है। आज विश्व पूँजीवाद मुनाफ़े की गिरती दर के असमाधेय संकट के दौर से गुजर रहा है। पूँजीवादी होड़ से पैदा हुई इस मंदी की कीमत छँटनी, तालाबन्दी, भुखमरी, दवा-इलाज़ का अभाव, बेरोज़गारी आदि रूपों में मेहनतकश वर्ग को ही चुकानी पड़ती है।

यूँ तो बेरोज़गारी की समस्या आम जनता के किसी न किसी हिस्से के सामने हमेशा खड़ी रहती है। मगर आर्थिक संकट के दौरान बहुत बड़ी मज़दूर आबादी बेरोज़गारी के नर्ककुण्ड में धकेल दी जाती है। मौजूदा दौर में भारत की अर्थव्यवस्था भयंकर मंदी के दौर से गुजर रही है। कोरोना महामारी के दौरान बिना योजना और तैयारी के लगाये गए लॉकडाउन से स्थिति और भी गंभीर हो गयी है। सीएमईआई के आंकड़ों के मुताबिक लॉकडाउन के दौरान औपचारिक और अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले लगभग सवा बारह करोड़ लोगों की रोज़ी-रोटी छिन गयी थी। लॉकडाउन के पहले की स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं थी। जुलाई 2017 के 3.7 फीसदी बेरोज़गारी दर के मुकाबले मार्च 2020 में बेरोज़गारी दर 8.7 फीसदी पर पहुंच चुकी थी। सीएमईआई के ही एक अन्य आंकड़े के मुताबिक अप्रैल-अगस्त के दरमियान लगभग 2.1 करोड़ वेतनभोगी कर्मचारी नौकरी से हाथ धो बैठे। बढ़ती बेरोज़गारी और छँटनी का डर दिखाकर पूँजीपति रोज़गारशुदा लोगों को भी कम मज़दूरी/वेतन पर काम करने के लिए मजबूर करता है। मतलब साफ़ है कि मुनाफ़े के लिए जारी पूँजीवादी अराजक प्रतिस्पर्धा की वजह से पैदा हुई मन्दी का संकट एक तरफ नौजवानों को बेरोज़गारी में धकेलता है तो दूसरी ओर रोज़गारशुदा लोगों की ज़िन्दगी को भी कठिन बना देता है। पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस से पैदा हुये संकट की कीमत इस रूप में आम जनता चुकाती है।

1991 में आर्थिक उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाजे वैश्विक पूँजी के लिए खोल देने के बाद युवाओं के लिए सरकारी नौकरियों के अवसर कम होने लगे तो वहीं शुरुआती तेज़ी के बाद अब पूँजीवादी होड़ की वजह से प्राइवेट सेक्टर में भी नौकरी पैदा होने की दर लगातार कम हो रही है। सातवें वेतन आयोग के आँकड़ों के मुताबिक 1995 में केंद्र सरकार के अलग-अलग विभागों में (सैन्य बलों को छोड़कर) कुल नौकरी करने वालों की संख्या 39 लाख 82 हज़ार थी, वह 2011 में घटकर 30 लाख 87 हज़ार पर आ गयी। पिछले दो सालों में 16 राज्यों मे कोई भर्ती ही नहीं हुई है। स्थिति यह है कि एक सीट के लिए औसतन 5000 फॉर्म भरे जा रहे हैं। मोदी के सत्ता में आने के बाद नयी भर्तियों की जो रफ्तार है उससे सहज ही समझा जा सकता है कि अब स्थिति क्या होगी? दूसरी ओर मन्दी की वजह से उत्पादन के क्षेत्र में कम

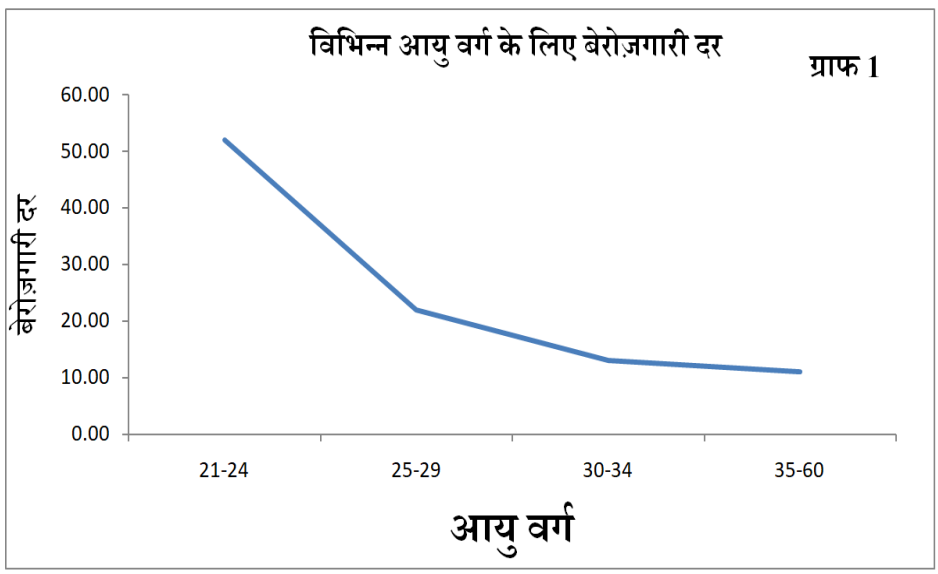

होते निवेश (2009-14 के बीच निजी क्षेत्र में मशीनरी और संयंत्र में औसतन सालाना निवेश दर 14 प्रतिशत से घटकर 2016-18 के बीच 6.4 प्रतिशत पर आ गयी।) से प्राइवेट सेक्टर में भी नौकरी पैदा होने की दर लगातार कम हो रही है। 2004-09 के बीच निजी क्षेत्र में रोज़गार सृजन की दर 10.5 से गिरकर 2014-18 के दौरान 1.3 फीसदी पर आ गयी थी। इसमें दो चीज़ों पर ध्यान देने की ज़रूरत है। पहली बात कि यह वह दौर है जब मोदी सरकार और उसका भोंपू मीडिया अर्थव्यवस्था के मज़बूत होने के दावे कर रहे थे और दूसरा कि जो रोज़गार पैदा हुए है उसका भी बड़ा हिस्सा ठेका मज़दूरों, कॉन्ट्रैक्ट आदि का है। इसको सीएमईएआई के इस आंकड़े से समझा जा सकता है।

जनवरी-अप्रैल-2016 में देश में व्हाइट कालर मज़दूरों की संख्या 1.25 करोड़ थी जो अप्रैल- जुलाई 2020 में घटकर 1.21 करोड़ रह गयी है। एनएसएसओ पीएलएफएस सर्वे (नेशनल सैंपल सर्वे ऑर्गनाइज़ेशन के पेरिओडिक लेबर फोर्स सर्वे- 2017-18) की रिपोर्ट आज के भारत की स्थिति को और साफ-साफ बयान कर रही है। यही कारण था कि मोदी सरकार इस रिपोर्ट को जनता के बीच आने से रोकने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रही थी। रिपोर्ट के मुताबिक बिना अनुबन्ध वाले नियमित मजदूरों की संख्या 2011-12 के 64.4% से बढ़कर 2017-18 मे 71.1% हो गयी और सवेतन छुट्टी के अधिकार से वंचित नियमित मजदूरों की तादाद 50% से बढ़कर 54.2% हो गयी है। मतलब साफ है कि अब प्राइवेट सेक्टर में भी बेहतर नौकरियों के अवसर लगातार सिकुड़ते जा रहे है। फ़ासिस्ट मोदी सरकार की 'फिक्स्ड टर्म एम्प्लॉयमेंट' की नीति इस स्थिति को और भयंकर करने वाली है। हरदम बेरोज़गार नौजवानों को उपदेश देने के मूड में रहने वाला भारत का खाया-पिया-अघाया मध्यवर्ग, गोदी मीडिया चीख़-चीख कर उद्यमी बनने का सलाह देते रहते है। अब जरा आइये कुछ तथ्यों से देखें कि देश में स्वरोज़गार करने वाले युवाओं की क्या स्थिति है?

2018-19 की सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक स्वरोज़गार करने वाले व्यक्तियों की औसत मासिक आय 8,363 रुपये थी, जो बहुत से प्रदेशों में मिलने वाली न्यूनतम मजदूरी से भी कम है। 95 फ़ीसदी से अधिक स्वरोज़गार करने वाले किसी दूसरे को काम पर नहीं रखते हैं। मतलब साफ है ये 95 फीसदी का आँकड़ा नौजवानों की वह आबादी है जो 28-30 साल की उम्र तक तो नौकरी की तलाश करती है, और फिर कुछ न मिलने कि स्थिति में रेहड़ी-खोमचा लगाकर या छोटी-मोटी दूकान खोलकर किसी तरह से जीवन यापन करती है। स्वरोज़गार करने वालों के लिए एक तो आज की महंगाई में इतनी कम आमदनी में खर्च चलना भी मुश्किल है ऊपर से छोटी पूँजी का बड़ी पूँजी से प्रतिस्पर्धा में पिछड़ना निश्चित है, इसलिए स्वरोज़गार में हर-हमेशा भविष्य का संकट मुँह खोले खड़ा रहता है।

बेरोज़गारी की चक्की में सबसे ज्यादा नौजवान पिस रहे हैं। देश का हर पाँचवा डिग्री होल्डर रोज़गार के लिए भटक रहा है। देश में ग्रेजुएट बेरोज़गारों की तादाद सवा करोड़ के ऊपर पहुँच चुकी है। अंडर ग्रेजुएट नौजवानों में औसत बेरोज़गारी की दर 24.5% पहुँच चुकी है। मतलब यह कि देश का हर चौथा डिग्रीधारी बेरोज़गार है। वहीं 21-24 साल के नौजवानों में यह स्थिति और भी गंभीर है। इस आयु वर्ग का हर दूसरा नौजवान स्नातक की डिग्री लिए बेरोज़गार घूम रहा है।

ग्राफ 1 में 21-24 आयु वर्ग के कॉलेज/यूनिवर्सिटी से निकलने वाले छात्रों को दर्शाता है, जो बेहतर नौकरी के लिए सरकारी विभागों में भर्तियों की तैयारी करते रहते है। फ़ासीवादी सरकार नौकरियाँ पैदा करने की जगह सरकारी भर्तियों पर अप्रत्यक्ष रोक लगा चुकी है। 2014-15 में देशभर में कुल 1,13,524 सरकारी भर्तियाँ हुईं तथा पब्लिक सेक्टर मे कुल 16.91 लाख लोग कार्यरत थे, वह 2016-17 में घटकर एक लाख और 15.23 लाख पहुँच गयी है। जो नौकरियाँ आ भी रही रही है वो भी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जा रही है। अदालती कार्रवाई भर्तियों का एक आवश्यक चरण बन गया है। इसीलिए हताशा-निराशा का शिकार होकर आत्महत्या करने वाली छात्र आबादी में सबसे बड़ा हिस्सा इसी आयु वर्ग का है। 30 साल आयु वर्ग आते-आते बेरोज़गारी दर में अचानक बहुत तेज़ गिरावट आई है (हालाँकि तब भी बेरोज़गारी दर 13% है जो कि भयानक स्थिति है)। इसका कतई मतलब यह नहीं है कि यह आयु वर्ग आते-आते ज़्यादातर लोगों को रोज़गार मिल जाता है बल्कि इस उम्र तक पहुँचते-पहुँचते छात्र नौकरी पाने की आस छोड़ रेहड़ी-खोंमचा लगाने, ई-रिक्शा चलाने आदि काम करने लगते है। जिसको यह बेशर्म व्यवस्था सेल्फ एम्प्लायड का "खूबसूरत" नाम देती है।

कम होते रोज़गार के अवसर

बेरोज़गारी का संकट दिन प्रति दिन और विकराल रूप ग्रहण करता जा रहा है। सरकारों के तमाम दावों के विपरीत आबादी के अनुपात में रोज़गार सृजन की बात तो दूर, जो नौकरियाँ पहले से थीं वो भी खत्म होती जा रही हैं। सरकारी विभागों मे निकलने वाली नौकरियाँ लगातार कम होती जा रही हैं। दूसरी ओर हर साल करोड़ों छात्र 'जॉब मार्केट' मे दाखिल हो रहे हैं, लाखों छात्र निराशा और अपराधबोध की वजह से अवसाद के शिकार हो रहे हैं। अब अवसाद नौजवानों की ज़िन्दगी पर भारी पड़ने लगा है। एनसीआरबी के आँकड़ों के मुताबिक 2018 में हर घंटे देशभर में रोज़गार और स्वरोज़गार से जुड़े तीन नौजवानों ने आत्महत्या की। आइये कुछ आंकड़ों के माध्यम से देखते है कि आज देश में सरकारी नौकरियों की क्या स्थिति है?

ग्राफ 2 से स्पष्ट है निम्न से लेकर उच्च स्तर तक की सभी सरकारी नौकरियाँ लगातार सिकुड़ती जा रही हैं। एसएससी-सीजीएल के लिए 2012 की तुलना में 2020 में केवल 40% भर्तियाँ बची हैं। आईबीएसपी-पीओ में 2012 की तुलना में लगभग 20% भर्तियाँ बची है। यही स्थिति अन्य परीक्षाओं की भी है। 1991 की नयी आर्थिक नीति के बाद से केन्द्र और राज्य सरकार की नौकरियाँ लगातार सिकुड़ती जा रही है।

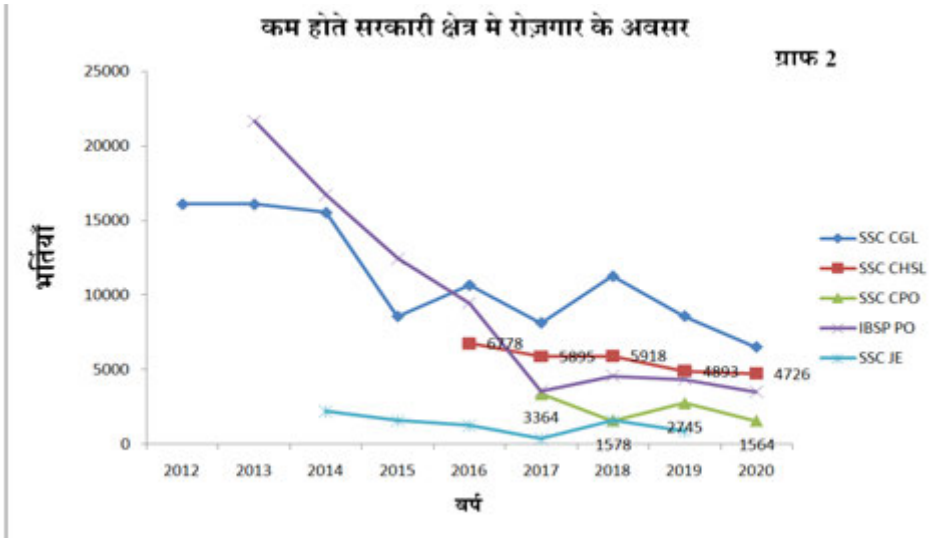

ग्राफ 3 दर्शाता है कि केन्द्र सरकार की नौकरियाँ 1995 के बाद 1.67% की दर से खत्म होती जा रही है। सरकार और सरकार के टुकड़ों पर पलने वाले बुद्धिजीवी तर्क देते रहते है की सरकार के पास पैसे ही नहीं हैं तो नौकरियाँ कहाँ से दी जाएगी। अब आइये इस तर्क के खोखलेपन को देखा जाय।

लोकसभा 2019 के चुनाव में 543 सीट के लिए 839 उम्मीदवारों का पर्चा दाखिल हुआ था। संवैधानिक तौर पर हर उम्मीदवार को 70 लाख खर्च करने कि अनुमति थी। लेकिन लोकसभा चुनाव के 75 दिनों मे 56,213 करोड़, महाराष्ट्र विधानसभा चुनाव में 806 करोड़, हरियाणा में 252 करोड़, झारखंड में 226 करोड़, दिल्ली मे तक़रीबन 200 करोड़ रुपये स्वाहा हो गए। ध्यान रहे कि ये सब आधिकारिक आँकड़े है। पर्दे के पीछे का खर्च इससे कई गुना ज़्यादा है लेकिन हम आधिकारिक आँकड़ों को ही लेकर चलते हैं। जब देश मे चुनाव मे खर्च करने के लिए इतने पैसे हैं, तो रोज़गार सृजन के लिए निवेश क्यों नहीं हो सकता। जितना ख़र्च 2018-20 तक चुनावों में किया गया है, इतने में 5 लाख से ज़्यादा नौजवानो को रोज़गार दिया जा सकता है और उनके वेतन और पेंशन के लिए भी नहीं सोचना पड़ेगा।

रही बात खाली पदों की तो अकेले केन्द्र सरकार के विभागों में 4,20,547 पद खाली पड़े है। और अगर राज्य सरकारों में खाली पड़े पदों को भी जोड़ लिया जाय तो यह संख्या 90 लाख पार कर जाएगी।

चूँकि लूट और मुनाफ़े पर टिकी हुई पूँजीवादी व्यवस्था के लिए बेरोज़गारों का होना पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए सेहतमन्द होता है। ऐसे में इस व्यवस्था की परिधि में रहकर बेरोज़गारी से निजात पाने के बारे में सोचना अन्ततोगत्वा दिवास्वप्न साबित होगा। आज 'सबको शिक्षा, सबको काम' के नारे के इर्द-गिर्द एक बड़ी लामबन्दी क़ायम करते हुए आन्दोलन छेड़ने की ज़रूरत है और इस संघर्ष को पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ चलने वाले व्यापक संघर्ष से जोड़े बग़ैर इसका कोई हल नहीं निकल सकता है। असल मायने में इस समस्या का समाधान न्याय और समता पर आधारित समाजवादी समाज में ही सम्भव है।

●

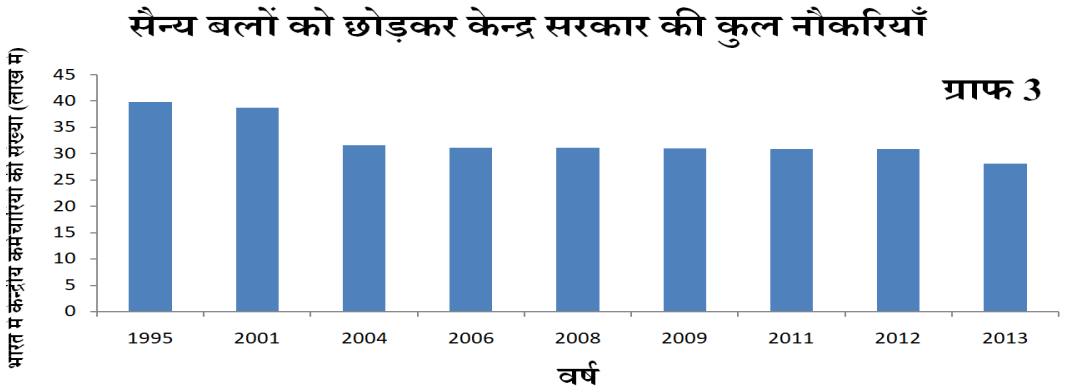

अर्थ-जगत

भारत में महिला श्रमबल भागीदारी दर में चिन्ताजनक गिरावट

भारतीय समाज के विकृत पूँजीवादी विकास का लक्षण

आनन्द

किसी समाज में काम करने वाली कुल आबादी में महिलाओं की भागीदारी उसके विकास का सूचक होता है। पूँजीवादी विकास और मुद्रा अर्थव्यवस्था के पदार्पण के साथ ही महिलाओं को अपने घरों की चौहद्दी को पार करने के लिए उत्प्रेरण मिलना शुरू होता है और वे ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में श्रमबल में भागीदारी करती हैं। मुनाफ़ा कमाने की सनक में डूबे पूँजीपति वर्ग के भी यह हित में होता है कि ज़्यादा से ज़्यादा महिलाएँ श्रमबल का हिस्सा बनें ताकि मज़दूर वर्ग की तादाद बढ़ने से उसकी मज़दूरी बढ़ाने के लिए मोलभाव करने की ताक़त कम हो। हालाँकि महिलाओं के श्रमबल में शामिल होने से वे पितृसत्ता की ग़ुलामी के साथ ही साथ उजरती ग़ुलामी के मोहपाश में बँध जाती हैं, परन्तु ऐतिहासिक रूप से यह प्रगतिशील होता है क्योंकि यह उनकी मुक्ति की रास्ते में आगे बढ़ा हुआ क़दम होता है।

श्रमबल में महिलाओं की भागीदारी को महिला श्रमबल भागीदारी दर के रूप में मापा जाता है जो यह बताती है कि काम करने की उम्र (16 से 64 वर्ष) में कितनी फ़ीसदी औरतें रोज़गारशुदा हैं या रोज़गार की तलाश कर रही हैं। यह बेहद चिन्ताजनक बात है कि भारत में 2005 के बाद से इस दर में लगातार गिरावट का रुझान जारी है। जून 2020 में विश्व बैंक द्वारा जारी डेटा के अनुसार भारत में महिला श्रमबल भागीदारी दर गिरकर 20.3 प्रतिशत हो चुकी है। ग़ौरतलब है कि 1990 में यह दर 30.3 प्रतिशत थी। यह दक्षिण एशिया में सबसे कम है। दुनिया के स्तर पर केवल यमन, इराक़, जॉर्डन, सीरिया, अल्जीरिया, ईरान, पश्चिमी बैंक और ग़ाज़ा में ही यह दर भारत से कम है। कहने की ज़रूरत नहीं कि कोरोना महामारी के दौरान इस दर में और गिरावट आयी होगी। एक शोध के अनुसार कोरोना काल में 20 करोड़ से अधिक नौकरियाँ छीनी जा चुकी हैं। इसका सबसे ज़्यादा नुक़सान महिला कामगारों को हुआ है। औरतें न सिर्फ़ बेरोज़गार हो रही हैं बल्कि वे वापस चूल्हे-चौखट की दहलीज़ के भीतर क़ैद होने पर मजबूर हो रही हैं।

विश्व आर्थिक मंच द्वारा जारी 'ग्लोबल जेण्डर गैप इण्डेक्स 2020' सामने आती है जिसमें भारत 4 स्थान नीचे लुढ़ककर 112 तक जा पहुँचा है। अर्थव्यवस्था में महिलाओं के स्वास्थ्य और भागीदारी के मामले में भारत का स्थान सबसे नीचे के 5 देशों में है। उपरोक्त डेटा भारत में महिलाओं की स्थिति का एक आईना है।

महिला श्रमबल भागीदारी दर में गिरावट की वजहें

किसी भी अर्थव्यवस्था में विकास के साथ-साथ कृषि में काम करने वाली आबादी में कमी आती है और उद्योगों और सेवा क्षेत्र में काम करने वाली आबादी में बढ़ोतरी होती है। परन्तु भारत में सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा गिरकर 16 प्रतिशत रह गया है। परन्तु, अभी भी लगभग आधा श्रमबल कृषि में ही लगा हुआ है। यह भारत में पूँजीवादी विकास के विकृत रूप को दिखाता है। ग़ौर करने वाली बात यह है कि महिला श्रमबल भागीदारी दर में गिरावट के पिछले तीन दशक नवउदारवाद के भी दशक रहे हैं। इस दौरान अर्थव्यवस्था में वृद्धि के तमाम दावों के बावजूद आज यह सच्चाई दिन के उजाले की तरह साफ़ हो चुकी है कि इस दौरान नौकरियाँ बहुत कम पैदा हुई हैं। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने स्वयं इसे 'जॉबलेस ग्रोथ' की संज्ञा दी है। विश्वाव्यापी मन्दी के मौजूदा दौर में रोज़गार पाने की सम्भावना पहले से भी कम हो गयी है। नये रोज़गार के अवसर न पैदा होने का सीधा असर औरतों की श्रमबल में भागीदारी पर होता है क्योंकि वे अपने घर की दहलीज़ लाँघने के लिए पर्याप्त उत्प्रेरण नहीं मिल पाता है। कृषि में संकट की वजह से भी महिलाओं की श्रमबल में भागीदारी में कमी आती है क्योंकि गाँवों में काम करने वाली आबादी की तादाद पहले से ही ज़रूरत से ज़्यादा है और संकट की वजह से कृषि की उत्पादकता भी नहीं बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त गाँवों से शहरों की ओर पलायन और प्रवासन में होने वाली दिक्क़तों, आवास की समस्या आदि की वजह से भी महिलाओं को घर की चौहद्दी लाँघने में बाधा आती है।

हाल के दशकों में हालाँकि महिलाओं के शैक्षिक स्तर में काफ़ी सुधार हुआ है, परन्तु उसी अनुपात में काम करने वाली महिलाओं की संख्या में बढ़ोतरी नहीं हुई है। इसकी एक वजह भारतीय समाज में व्याप्त घोर स्त्री -विरोधी और रुढ़िवादी मूल्य व मान्यताएँ हैं जिनकी वजह से औरतों को न चाहते हुए भी चूल्हे-चौखट की घुटनभरी अँधेरी दुनिया में क़ैद रखने पर मजबूर करती हैं। ग़ैर-क्रान्तिकारी ढंग से पूँजीवादी विकास का ही यह नतीजा है कि हमारे समाज में अभी भी तमाम सामन्ती मूल्यों-मान्यताओं की जकड़न बरक़रार है जिसका सीधा नतीजा श्रमबल में औरतों की भागीदारी में कमी के रूप में सामने आता है। तमाम महिलाओं

को शादी के बाद या फिर बच्चा होने के बाद नौकरी छोड़नी पड़ती है। यही नहीं, आँकड़े यह भी बताते हैं कि घर में मर्द की आय बढ़ने की वजह से आर्थिक स्थिति ठीक होने के बाद अक्सर काम करने वाली महिला नौकरी छोड़ देती है क्योंकि पुरातनपन्थी मूल्यों-मान्यताओं के अनुसार महिलाओं का काम करना अच्छा नहीं माना जाता है।

सरकार की नीतियाँ भी महिलाओं के श्रमबल में भागीदारी बढ़ाने में बाधा पैदा करती हैं। महिला कामगारों के लिए मातृत्व अवकाश, बच्चे को दूध पिलाने के लिए ब्रेक, शिशुघर जैसी सुविधाएँ न होने की वजह से महिलाओं के श्रमबल में शामिल होने की राह और मुश्किल हो जाती है। मोदी सरकार द्वारा लाये गये लेबर कोडों में न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे आदि प्रावधान घरेलू कामगारों, घरों में पीसरेट पर काम करने वाली महिलाओं (मिसाल के लिए बीड़ी का काम करने वाली या ज़री का काम करने वाली) पर लागू ही नहीं होंगे। निश्चित रूप से ये श्रमबल में महिलाओं की भागीदारी की राह में बाधा पैदा करेगा। घरेलू कामगारों, घरों में पीसरेट पर काम करने वाली महिलाओं और घरों में सिलाई-कढ़ाई आदि का काम करने वाली महिलाओं की गिनती श्रमबल में नहीं की जाती जिसकी वजह से श्रमबल में महिलाओं में भागीदारी की सही तस्वीर सामने नहीं आ पाती है। भूमण्डीलीकरण के दौर में श्रम के अनौपचारीकरण की प्रक्रिया की वजह से भी औरतों की उत्पादक गतिविधियों में भागीदारी के बावजूद उनके योगदान को आधिकारिक रूप में स्वीकार नहीं किया जाता जो महिला कार्यबल भागीदारी दर में भी गिरावट की वजहों में से एक है।

महिलाओं की श्रमबल में भागीदारी और स्त्री-मुक्ति का प्रश्न

स्त्रियों की पितृसत्तात्मक ग़ुलामी की शुरुआत समाज के वर्गों में बँटवारे और निजी सम्पत्ति के उद्भव से हुई थी। पितृसत्ता ने स्त्रियों को उत्पादन की दुनिया से काटकर घरों की दहलीज़ में क़ैद कर दिया। पूँजीवाद ने अपनी ज़रूरतों से औरतों को घरों की दहलीज़ लाँघकर पुन: उत्पादन के क्षेत्र में लाने का मार्ग प्रशस्त किया। लेकिन औरतों के श्रमबल में शामिल होने से उनकी दोहरी ग़ुलामी की शुरुआत हो जाती है। पितृसत्ता और उजरती ग़ुलामी पूँजीवाद के दायरे में स्त्रियों की मुक्ति को असम्भव बनाती हैं परन्तु औरतों के श्रमबल में शामिल होने से वे उजरती ग़ुलामी के ख़िलाफ़ जारी संघर्ष में भी शामिल हो जाती हैं जिससे समाजवादी क्रान्ति की लड़ाई मजबूत होती है और वर्गों तथा निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे की ज़मीन मजबूत होती है।

स्त्री-मुक्ति का स्वप्न तो उन देशों में भी पूरा नहीं हुआ जहाँ पूँजीवाद क्रान्तिकारी रास्ते से आया। वहाँ भी महिलाओं को पितृसत्ता और उजरती ग़ुलामी की दोहरी मार झेलनी पड़ती है। परन्तु भारत में क्रमिक रास्ते से हुए पूँजीवादी विकास और भूमण्डलीकृत नवउदारीवादी पूँजीवाद में श्रम के अनौपचारिकीकरण ने समाज की चुनौतियों को कहीं ज़्यादा बढ़ा दिया है। यह विकृत पूँजीवादी विकास न सिर्फ़ भारतीय समाज में समाजवादी क्रान्ति की राह में मुश्किलें पैदा कर रहा है, इससे स्त्री-मुक्ति का रास्ता भी और मुश्किल होता जा रहा है। लेकिन इन मुश्किलों के बावजूद यथार्थ का दूसरा पहलू यह भी है कि देशभर में स्त्रियाँ अनेक रूपों में बग़ावत कर रही हैं और इन्हीं बग़ावतों से स्त्री-मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त होगा और समाजवादी क्रान्ति का संघर्ष भी आगे बढ़ेगा।

'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। हम आपको बताना चाहते हैं कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर के सहयोग करें। 2. अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवाएँ। 3. 'आह्वान' के लिए आर्थिक सहयोग भेजें। साथ ही, 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र भेजने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि नीचे दिये गये बैंक खाते में भेज सकते हैं या आह्वान के पते पर चेक/ड्राफ़्ट/मनीऑर्डर भेज सकते हैं। आर्थिक सहयोग या सदस्यता राशि भेजते समय हमें सूचित अवश्य करें और अपना पूरा पता और फ़ोन नम्बर ज़रूर दें।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, बादली शाखा, खाता नं. 21360100010629,
IFSC: BARB0TRDBAD (BARB के बाद 0 (शून्य) है)

साभिवादन, सम्पादक

विमर्श

कोविड-19 के षड्यंत्र सिद्धान्तों का संकीर्ण अनुभववाद और रहस्यवाद की परछाई

सनी सिंह

कोरोना महामारी (पैंडेमिक) के साथ इस वायरस के उत्पत्ति की फेक न्यूज़ महामारी(इंफोडेमिक) का भी विस्फोट बहुत तेज़ी से हुआ। लाखों लोग इस बीमारी की वजह से अपनी जान गंवा चुके हैं लेकिन कुछ लोग कोरोना वायरस और लॉकडाउन को षड्यंत्र बताते रहे। भारत में बीमारी पर मुनाफ़ा कमाने के लिए टीका बनाने वाली कम्पनियों में भी धींगामुश्ती चल रही है वहीं अभी तक हमारे कोविडियट्स यह नहीं तय कर पाए हैं कि कोरोनावायरस है क्या? उनके अनुसार यह वायरस नया नहीं है, बल्कि सामान्य मौसमी फ्लू है, या इसकी उत्पत्ति चीन/बिल गेट्स के प्रयोगशाला में की गई है, या इसका विकास 5G बैंडविथ के विकिरणों की वजह से हुआ है, या फिर बड़ी फार्मा कंपनियों द्वारा ही पहले से ही शोध कर लिए गए टीका को बेचने के लिए इस वायरस को बनाया गया है, इत्यादि। इन व्याख्याओं को जनता के बीच स्वीकार्यता मिली है। इसकी वजह जनता में मौजूद "कॉमन सेन्स" है। यह अनुभवों का सारसंग्रहवादी समुच्चय होता है। इसके आधार पर कोई भी प्राकृतिक या समाज वैज्ञानिक फैसला नहीं ले सकता है। परन्तु कोविड-19 के उद्भव और उसके फैलने के सामाजिक-आर्थिक कारणों कर पड़ताल करने की जगह केवल लाक्षणिक पड़ताल तक ही तमाम बुद्धिजीवी व क्रान्तिकारी सीमित रहे।

इस बीमारी का तार्किक विश्लेषण ही हमें इसके इलाज और रोकथाम की ओर लेकर जा सकता है। दक्षिणपंथियों (जो वर्ग अंतर्विरोध को छिपाने के लिए तरह-तरह के झूठ बोलते हैं) और वामपंथियों (जो अपने बेवकूफी की वजह से चीज़ों को समझ नहीं पाते हैं) का ग़लत विश्लेषण उन्हें षड्यंत्र सिद्धांतों के ही गड्ढे में लेकर जाता है। जिसके परिणामस्वरूप इन सिद्धांतों का प्रचार करने में टीका-विरोधी, दक्षिणपंथी और कुछ अपढ़ 'मार्क्सवादी' भी सबसे आगे थे। टीका-विरोधी वे प्रकृतिवादी लोग हैं जो टीकाकरण के षड्यंत्र होने का दावा करते हैं। यह बहुत ही हास्यास्पद है कि ब्राजील, यूरोप और अमेरिका के दक्षिणपंथियों द्वारा मास्क, लॉकडाउन और बीमारी के ख़िलाफ़ आयोजित किए गए विरोध प्रदर्शन का समर्थन भारत के अपढ़ मार्क्सवादी भी कर रहे थे। इस मूर्खता की जड़ भौंडे अनुभववादी दर्शन में है। फासिस्ट और प्रतिक्रियावादी ताकतें जनता में प्रचलित अनुभवों के समुच्चय 'कॉमन सेन्स' का इस्तेमाल अपनी विचारधारा को फैलाने में करती हैं। अनुभववाद जनता के बीच प्रचलित के एक ऐसी विचारधारा है जो विज्ञान की अनुपस्थिति में किसी भी सामाजिक या जैविक परिघटना का केवल आनुभविक, प्रत्यक्षवादी, और इम्प्रैशनिस्ट विश्लेषण पेश करती है। अनुभववाद सिद्धांतों की अवहेलना करता है। वे यह नहीं समझ पाते कि हर चमकती चीज़ सोना नहीं होती। कोरोना वायरस के उद्भव और उसके फैलाव की वजह से हुए लॉकडाउन के बारे में भी इस तरह ही एक तरफ़ अनुभववादी विवेचना मौजूद है तो उसकी द्वन्द्वात्मक छाया के तौर पर तमाम षड्यंत्र सिद्धांत फलते फूलते हैं।

प्राकृतिक विज्ञान में प्रचलित अनुभववाद

किसी भी परिघटना के सार को समझने के लिए हमें इसके बाहरी आवरण को भेदकर आंतरिक संरचना तक जाना होता है। जब इंद्रियग्राह्य ज्ञान व्यवहार के दौरान अवधारणा तक पहुँच जाता है तब हम सार तक पहुँच जाते हैं। केवल व्यवहार में उतरने के बाद ही हम सामान्यीकरण, सिद्धांत, कार्य-कारण, आंतरिक संरचना और एक प्रक्रिया की अन्तरवस्तु तक पहुँचते हैं। आकाश में तारों की छतरी आज की नहीं बल्कि भूतकाल की तस्वीर है। अगर शक्तिशाली दूरबीन से देखें तो हमें ऐसे सितारे दिखेंगे जो असल में मौजूद नहीं हैं। लेकिन चूंकि उनकी किरणें अभी तक हमारी आँखों तक पहुँच रहीं हैं इसलिए हमें उनकी तस्वीर दिखाई देती है। वे हमसे करोड़ों प्रकाश वर्ष की दूरी पर हैं और जितना समय उनके प्रकाश को धरती पर आने में लगता है, उतना समय उन्हें ब्लैक होल द्वारा खा लिए जाने या फिर सुपरनोवा के रूप में खत्म हो जाने के लिए काफ़ी है। हम अवधारणात्मक ज्ञान की उस मंज़िल तक पहुँच चुके हैं जहां हमें यह पता चलता है कि आसमान ब्रह्मांड की गतिशील तस्वीर प्रतिबिम्बित करता है। सापेक्षता के विशेष सिद्धांत ने हमें इस अवधारणा पर वैचारिक स्पष्टता प्रदान की है। सड़े हुए मांस पर लार्वा का प्रजनन हमें यह प्रतिबिम्बन देता है मानो इसमें ही नवजीवन विकसित हो रहा हो। लेकिन असल में इस वातावरण में मौजूद सूक्ष्मजीव और मक्खियाँ के अण्डे से पैदा हुए लार्वा मांस को सड़ाते हैं। लुई पाश्चर ने इसे साबित किया, जिसे आगे चलकर जर्म थ्योरी विकसित हुई। रॉबर्ट कोश ने आगे यह निष्कर्ष निकाला कि बीमारियाँ आकाश में ग्रहों और सितारों की अवस्थिति की वजह से नहीं बल्कि विभिन्न कीटाणुओं के कारण होती हैं। इससे पहले, **गैलन** का मियाज़मा सिद्धांत काफ़ी

लोकप्रिय था जिसके मुताबिक बीमारियाँ दूषित हवाओं की वजह से होती हैं, इसलिए हमें अपने शरीर को शुद्ध रखना चाहिए। पवित्रता और प्रकृतिवाद की यह अवधारणा अभी भी चिकित्सा पद्धतियों जैसे आयुर्वेद और अन्य अनुभवजन्य प्रथाओं जैसे कि यूनानी चिकित्सा और होम्योपैथी में व्यापक रूप से प्रचलित है। ये सभी आनुभविक अवलोकनों और पूर्व-आधुनिक जीव विज्ञान की अवधारणाओं पर आधारित हैं। ये आनुभविक पद्धति कई बार हमें सही अवलोकनों तक भी पहुँचा देती है, लेकिन इससे हम विज्ञान नहीं कह सकते। इन सिद्धांतों की कई अवधारणाएँ आधुनिक जीव विज्ञान के उलट बात करती हैं।

आधुनिक जीव विज्ञान सभी आधुनिक विज्ञानों मे सबसे नया है। पहले सेल और फिर जर्म सिद्धांतों की खोज हुई, और तब से विज्ञान के हर एक क़दम ने अमूर्त/रहस्मय कारणों को हटाकर ठोस भौतिक जैविक कारणों कर पड़ताल की है। आधुनिक भौतिकी पूँजीपति वर्ग के उदय के साथ पुनर्जागरण के दौर में पैदा हुई। पहले धर्म सम्मत विश्व की कल्पना के अनुसार मुताबिक पृथ्वी को ब्रह्मांड का केन्द्र माना गया था। आभासी रूप से सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, लेकिन यह जानने के लिए विज्ञान की ज़रूरत होती है कि प्रतीतिगत चीजें वास्तविक नहीं होतीं। गैलीलियो द्वारा यह सिद्ध किया गया कि सूर्य धरती के चारों ओर नहीं बल्कि धरती सूर्य के चारों ओर घूमती है। और फिर रसायन विज्ञान में, फ्लॉजिस्टन सिद्धांत भी एक ऐसी ही अवधारणा थी जिसके अनुसार चीजों में मौजूद फ़्लॉजिस्टन नामक तरल पदार्थ के कारण आग लग जाती है। पदार्थों की रासायनिकी के बारे में हमारे ज्ञान ने किमियागिरी और फ्लॉजिस्टन सिद्धांतों का निषेध कर दिया। भौतिकी और रसायन विज्ञान के बाद ही आधुनिक जीव विज्ञान का जन्म हुआ। और इसके साथ ही आधुनिक दवाओं का विकास हुआ, लेकिन अभी भी पुरानी चिकित्सकीय प्रथाएं समाज में मौजूद हैं। आनुवंशिक सिद्धांत और वायरस की संरचना आधुनिक विज्ञान की खोज हैं, और हमें इनके बारे में 19वीं और 20वीं शताब्दी में ही पता चला। इंसान ने आकाशगंगाओं और पृथ्वी के बारे में अवधारणात्मक ज्ञान प्राप्त किया, उसके बाद ही वह खुद अपने शरीर और अपनी प्रजाति को समझने में सक्षम हुआ। इतिहास में न्यूटन लायल से पहले आए और लायल के बाद डार्विन आए। ऐसा ही हो सकता था। विभिन्न प्रजातियों की गतिकी के बोध, यानी उदविकास, धरती पर यांत्रिक बदलाव और ब्रह्मांड संबंधी परिवर्तन के ज्ञान के बाद विकसित होने के बाद ही हासिल किया गया। आधुनिक जीव विज्ञान विज्ञान की सबसे नई शाखा है। जर्म सिद्धांत लुई पाश्चर और रॉबर्ट कोश द्वारा 19वीं शताब्दी में ही ढूंढा जा सकता था। इसने जीवन की स्वत:उद्भव (स्पॉन्टैनियस जनरेशन) के सिद्धांत को ध्वस्त कर दिया। सोवियत वैज्ञानिक ऑपेरिन, व मार्क्सवादी वैज्ञानिक हॉल्डेन व बर्नाल ने जीवन की जैवरासायनिक उत्पत्ति का सिद्धांत दिया जो कि बाद मिलर और यूरे के प्रयोग में मूलत: सही साबित हुआ। मानव शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और अन्य संरचना और रोगाणुओं का हम पर असर जानने के बाद ही टीकाकरण की शुरुआत हो पायी। पहले एडवर्ड जैनर द्वारा चेचक के टीके की खोज हुई और उसके बाद फ्लेमिंग द्वारा पहली एण्टीडबायोटिक पेनिसिलिन की खोज हो सकी। कोशिकाओं की खोज, इवोल्यूशन के सिद्धांत, जर्म थ्योरी का विकसित होना मानव ज्ञान के क्रमिक चरण हैं। विज्ञान हमारे मस्तिष्क पर लगातार गतिमान पदार्थ का ही प्रतिबिम्बन है और इसलिए यह हमेशा सापेक्ष होता है। **मानव ज्ञान के लिए हमेशा अज्ञान का एक क्षितिज और अनिश्चितता का एक धुंधलका बना रहता है। ज्ञान और अज्ञान के द्वन्द्व में नई अवधारणाओं पर अतीत के सिद्धांतों के अवशेष लिपटे रहते हैं जो व्यववहार में ही झाड़े जाते हैं।**

अतीत के सिद्धांतों के अवशेष व्यवहार में नष्ट हो जाते हैं। अनुभववाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से इस रूप में अलग है कि अनुभववाद यह समझ ही नहीं पाता कि ज्ञान हमेशा गहरा होता जाता है, और व्यवहार के दौरान हम इंद्रियग्राह ज्ञान से अवधारणात्मक ज्ञान तक पहुंचते हैं। अनुभाववादी व्यवहार-ज्ञान-व्यवहार के कुंडलाकार गति से अनभिज्ञ होते हैं। आधुनिक विज्ञान ने यह साबित किया है कि इसका दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है। लेकिन अनुभववादी समझ आज भी समाज में मौजूद हैं। चूंकि आधुनिक जीव विज्ञान और आधुनिक चिकित्सा, विज्ञान की एक नई शाखा है, इसलिए तमाम अनुभववादी और आध्यात्मिक सिद्धांतों के अवशेष आज भी इस पर मौजूद हैं। अगर हम कोविड-19 की समस्या को ही देखें, तो हम इस तरह के षडयन्त्र सिद्धांतों और इनके दार्शनिक स्रोतों को भी आसानी से समझ सकते हैं।

कोविड-19 सार्स कोरोनावायरस-2 वायरस की वजह से होता है और यह इंसान की ऊपरी श्वसन प्रणाली को प्रभावित करता है। यह वायरस कोरोनावायरस की ही प्रजाति है। सामान्य ज़ुकाम भी कोरोनावायरस की कुछ प्रजातियों के कारण होता है, जो सार्स कोरोनावायरस -2 से भिन्न होती हैं। वायरस क्या होता है? वायरस प्रोटीन खोल के भीतर एक आनुवांशिक तत्व होता है जिसपर तेल का आवरण (लिपिड कोटिंग) हो सकता है। सार्स कोरोना वायरस-2 में बाहरी परत तेलीय आवरण की होती है जिसकी सतह से बाहर प्रोटीन के कांटे निकले होते हैं। आनुवांशिक तत्व के रूप में आरएनए के रेशे इस संरचना के केन्द्र में होते हैं। इसलिए अल्कोहलयुक्त सैनिटाइज़र या साबुन इस वायरस के ख़िलाफ़ काफ़ी प्रभावी होते हैं। यह तेलीय आवरण को नष्ट कर देता है। वायरस की संरचना के अनुसार ही यह अनुमान लगाया गया है कि यह वायरस प्राकृतिक रूप से इंसानों में स्पीशीज़ जम्प (एक विषाणु का एक प्रजाति से दूसरे प्रजाति में प्रवेश कर जाना) हुआ है। जिस प्रजाति से ये वायरस मनुष्यों में आया है वह संभवतः चमगादड़ है। चमगादड़ में प्राकृतिक रूप से मौजूद वायरस का आनुवंशिक रूप से सार्सकोरोना वायरस-2 के समान है। इस वायरस पर हुए विभिन्न शोध प्रयोगशाला में इसकी उत्पत्ति की संभावना को लगभग ख़ारिज करते हैं। सारे प्रमाण इसी ओर इशारा करते हैं कि इस वायरस का विकास प्राकृतिक रूप से हुआ है।

वायरसों के पास कोई मेटाबोलिक तंत्र नहीं होता और अपने प्रजनन के लिए ये दूसरे जीवित प्राणियों पर निर्भर रहते हैं। आनुवंशिक पदार्थ (डीएनए या आरएनए) ही एक जीव की सभी मूल चारित्रिक जानकारी लिए होता है। वायरस एक बहुकोशिकीय जीव की कोशिका के अंदर प्रवेश कर उस पर हमला करता है और उस कोशिका की मेटाबोलिज़्म का इस्तेमाल खुद के अनुकरण के लिए करता है। सार्स कोरोना वायरस-2 मानव शरीर में प्रवेश कर अपने प्रोटीन स्पाइक्स के माध्यम से मानव कोशिकाओं पर मौजूद एन्ज़ाइम से जुड़ जाता है। किसी वायरस द्वारा शरीर में प्रवेश करने पर हमारे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता वायरस पर हमला करने की कोशिश करती है। हमारे शरीर में दो प्रकार की प्रतिरोधक क्षमताएँ होती हैं: आंतरिक और अनुकूलित। आंतरिक प्रतिरोधक क्षमता की वजह से शरीर में साइटोकिन्स जैसे कुछ रसायनों का रिसाव होता है, जो संक्रमित कोशिकाओं को मारने की कोशिश करते हैं, जिसके प्रभावस्वरूप शरीर में बुखार होता है। तमाम लक्षण जैसे नाक का बहना, गले में खराश, और मांसपेशियों में दर्द होना रोगाणु के खिलाफ़ हमारी प्रतिरोधक क्षमता की प्रतिक्रिया के प्रभाव हैं। इस प्रकार फ्लू, सामान्य सर्दी और कोविड-19 और कई वायरल संक्रमणों के कई लक्षण एक ही प्रकार के होते हैं। इस वजह से अनुभववादी लाक्षणिक ज्ञान के आधार पर ही इन सभी बीमारियों को एक समझ लेते हैं।

दूसरे प्रकार की प्रतिरोधक क्षमता को अनुकूलित प्रतिरोधक क्षमता कहते हैं। अनुकूलित प्रतिरोधक क्षमता में लिम्फोसाइट कोशिकाएँ और एंटीबॉडी शामिल होते हैं, जो विशिष्ट रोगाणु के ख़िलाफ़ विशिष्ट प्रतिक्रिया देते हैं। यह प्रतिरोधक शक्ति जब भी किसी रोगाणु (बाहरी तत्व) की पहचान करती है, तो इनका मुकाबला करने के लिए यह विशेष एंटीबॉडी और कोशिकाएँ बनाती है जो रोगाणु की संरचना, जिसे एंटीजेन कहा जाता है, की पहचान कर लेती है ताकि अगली बार इस तरह के वायरस के शरीर में दोबारा हमला करने पर उनसे लड़ सके। अनुकूलित प्रतिरोधक क्षमता प्राकृतिक या फिर मानव-निर्मित हो सकती है। मानव-निर्मित प्रतिरोधक क्षमता टीके की मदद से विकसित होती है। टीके में बीमारी पैदा करने वाले रोगाणु की संरचना होती है जिससे शरीर को नुकसान नहीं होता लेकिन हमारी प्रतिरोधक क्षमता इस संरचना को पहचान कर हमें संक्रमित करने वाले ऐसे रोगाणुओं से लड़ने में सक्षम हो जाती है। यह एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया की सरल तस्वीर है जो कि रोगाणु, प्रतिरोधक क्षमता और टीकाकरण की मूलभूत अवधारणा को समझना ज़रूरी था। टीका और महामारी के ज्ञान के अभाव में तमाम कोविडियट्स, जिनमें हमारे अपढ़ मार्क्सवादी भी शामिल हैं, टीका-विरोधियों के साथ ताल में ताल मिलाकर यह कह रहे हैं कि टीका एक धोखा है और इस संक्रमण से उबरने के लिए हमें अपनी प्राकृतिक अनुकूलित प्रतिरोधक क्षमता को विकसित होने देना होगा। लेकिन यह आधुनिक जीव विज्ञान के विरोध में है, और कोई ऐसा करता है तो उसे खुद को वैज्ञानिक ही नहीं विज्ञान का छात्र कहने का भी कोई हक़ नहीं है। यह वही तर्क है जो तमाम कोविडियट्स हर्ड इम्यूनिटी के जरिये बीमारी से लड़ने के पक्ष में देते हैं। उनका यह दावा है कि वैज्ञानिक जो बड़ी-बड़ी फार्मास्युटिकल कंपनियों के लिए काम करते हैं वे माल उत्पादन कर रहे हैं ताकि इन कम्पनियों का मुनाफ़ा सुरक्षित रहे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि टीकाकरण की ही भर्त्सना की जाए। अमरीका ने $E=mc^2$ का इस्तेमाल परमाणु बम बनाने के लिए किया था, जिसकी वजह से हिरोशिमा और नागासाकी में लाखों लोगों की जान चली गई, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि यह समीकरण ही ग़लत है। हमें विज्ञान को इस व्यवस्था द्वारा उसके उपयोग करने के तरीके से अलग कर देखना चाहिए। वायरस हमारी अटकलबाज़ी का विषय नहीं होता यह वस्तुगत यथार्थ है। इसे हम माइक्रोस्कोप के तहत इसे देख सकते हैं। हम शरीर में मौजूद सार्सकोरोनावायरस-2 के एंटीजन, प्रोटीन की जांच करके इसका परीक्षण कर सकते हैं या आरटी पीसीआर (रिवर्स ट्रांस्क्रिप्ट पॉलीमरेज़ कंडेनसेशन रिएक्शन) वायरस के परीक्षण के माध्यम से इसे परख सकते हैं जो रोगी के ऊपरी श्वसन नली में वायरस के आरएनए का परीक्षण करता है। इस वायरस की जैविक संरचना, जो इसे अन्य वायरसों से अलग करती है, एक वस्तुगत सच्चाई है। लेकिन वैज्ञानिक चेतना की कमी के चलते आम जनता हर तरह के षड्यंत्र सिद्धान्तों पर यकीन करती है। ये सिद्धांत वास्तव में पूँजीवाद के विरोधाभासों पर पर्दा डालने में मदद करते हैं।

इंसानों के बीच कोविड-19 का फैलाव का मूल कारण पर्यावरण का विनाश है। औद्योगीकरण और कृषि के अराजक और अंधे विकास के कारण वन्यजीवों के प्राकृतिकवास सिकुड़ रहे हैं। उनके प्राकृतिकवास के नष्ट होने की वजह से वन्यजीव की विशेष प्रजातियों में मौजूद वायरस मानव समाज के संपर्क में आ जाते हैं। जब से मानव समाज अस्तित्व में आया है, हम तमाम वायरसों से संक्रमित होते रहे हैं। लेकिन 1970 से ही मुनाफ़े की अंधी हवस के कारण वायरल संक्रमण की दर बेहद अधिक हो गई है। मानव-जाति में प्रवेश करने वाले वायरस की प्रक्रिया 'स्पीशीज़ जम्प' के माध्यम से होती है, जहां विभिन्न प्रजातियों के वन्यजीवों में अस्तित्वमान वायरस 'जेनेटिक इवोल्यूशन' के ज़रिये इंसानों के संपर्क में आकर उन्हें संक्रमित करना शुरू कर देता है।

पूँजीवाद में, जहां एक तरफ़ पूँजीपतियों की 'प्रकृति पर विजय प्राप्त करने' की कोशिश के कारण हमें एक के बाद एक महामारियों का सामना करना पड़ रहा है, वहीं दूसरी तरफ स्वास्थ्य व्यवस्थाओं को तबाह किया जा रहा है, स्वास्थ्य को एक माल बना दिया जा चुका है। इसका खामियाजा मुख्य त: ग़रीब जनता ही उठाती है। परन्तु यह महामारी रूपी 'मौत का फरिश्ता', जैसा कि एंगेल्स ने महामारी को कहा, झुग्गियों में तो अपने पंख फैलाए खड़ा रहता ही है लेकिन अमीरों के घर भी इससे बच नहीं पाते। वायरस के इस सामाजिक-पारिस्थितिक उद्भव और विकास को समझे बिना ये कोविडियट्स यह दावा कर रहे हैं कि वैज्ञानिक

(शेष पृष्ठ 42 पर)

विमर्श

अवसाद के अँधेरे में भटकते युवा

कविता कृष्णपल्लवी

कौन-सा घुन है जो हमारे युवाओं को भीतर ही भीतर खाये जा रहा है? उम्मीदों और सपनों से भरी उम्र में नाउम्मीदी, चुप्पी, अकेलेपन और मौत का दामन क्यों थाम रहे हैं इस देश के नौजवान?

चारों ओर अवसाद का अँधेरा छाया हुआ है। खोखली हँसी, मोबाइल पर बतियाते, इंटरनेट पर चैटिंग करते, मशीनों की तरह भागते-दौड़ते, अकेलेपन के रौरव नरक में जीते लोग। आत्मनिर्वासित आत्माएँ। चमकदार चीजों के बीच बुझे हुए चेहरे। इस अँधेरे से कैसे निकलें?

यह पूरा समाज ही जैसे एक लम्बी उदास रात से होकर गुज़र रहा है। लोग भीड़ में अकेले हैं, अपने आप में खोये हुए, खुद से बातें करते हुए, ज़िन्दगी की जद्दोजहद से थके हुए, उचाट और उदास। अपने आसपास निगाहें दौड़ाइए, आपको ऐसा ही कुछ देखने को मिलेगा। ज़्यादा लोगों के पास कहने को मुख्तसर-सी बातें हैं और हैं ढेरों चुप्पियाँ, पर आसपास के भागते-दौड़ते अजनबी चेहरों के बीच ऐसा कोई नज़र नहीं आता, जिससे दिल की चन्द बातें की जायें और हाथ में हाथ दिये कुछ देर तक चुपचाप बैठा जाये।

एक महामारी लम्बे समय से दुनिया को अपनी चपेट में लिये हुए है, बिना किसी शोर-शराबे के, चुपचाप। विश्व स्वास्थ्य संगठन के हालिया अनुमानों के मुताबिक तीस करोड़ से ज़्यादा लोग गम्भीर अवसाद (डिप्रेशन) से ग्रस्त हैं। इनमें से 2.3 करोड़ लोगों को शीज़ोफ्रेनिया है और लगभग 8 लाख लोग हर साल आत्महत्या कर लेते हैं। विकसित पूँजीवादी देशों में यह समस्या विकराल रूप में है जहाँ मानसिक स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याएँ अब हृदय रोगों और कैंसर के बाद जीवन प्रत्याशा में कमी का सबसे बड़ा कारण बन चुकी हैं। मगर भारत जैसे देशों में यह समस्या शायद और भी भीषण रूप में मौजूद है जहाँ विकृत पूँजीवादी विकास और पुराने, बंद समाज की विकृतियों का घालमेल एक ओर तरह-तरह की मानसिक जटिलताएँ पैदा कर रहा है और दूसरी ओर इन समस्याओं को सँभालने के लिए न तो समाज तैयार है और न ही स्वास्थ्य तंत्र।

भारत की तरह ही पूरी दुनिया में युवाओं की भारी आबादी अवसाद और मानसिक परेशानियों से ग्रस्त है। अमेरिका में लगभग आधे लोग अपने जीवन में कभी न कभी किसी मानसिक रोग से परेशान होते हैं और किसी भी वर्ष में क़रीब 4.5 करोड़ लोग मनोविकारों का सामना कर रहे होते हैं। इनमें बड़ी संख्या युवाओं की होती है। आज वहाँ आत्महत्या की दरें पिछले 30 वर्ष में सबसे अधिक हैं, नशाख़ोरी महामारी बन चुकी है और ऑनलाइन जुड़े रहने की बढ़ती संस्कृति इस तथ्य को छिपा नहीं पा रही कि सामाजिक अलगाव और अकेलापन बढ़ता जा रहा है।

क्या आप इस तथ्य से वाकिफ़ हैं कि पूरी दुनिया में होने वाली आत्महत्याओं में से क़रीब एक तिहाई भारत में होती हैं? चिकित्साविज्ञान की प्रसिद्ध पत्रिका 'लांसेट' के अनुसार दुनिया में होने वाली आत्महत्याओं में भारत का हिस्सा स्त्रियों में 1990 के 25.3% से बढ़कर 2016 में 36.6% हो गया और पुरुषों में 18.7% से बढ़कर 24.3% हो गया। राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2015-16 में पता चला कि 13-17 वर्ष उम्र के 98 लाख किशोर अवसाद और दूसरी मानसिक समस्याओं का सामना करते हैं। 'वैश्विक स्तर पर बीमारियों की स्थिति 1990–2017' नामक अध्ययन से पता चला था कि हर सात में से एक भारतीय अलग-अलग स्तर के मानसिक विकारों से परेशान था और भारत में रोगों के कुल बोझ में मानसिक विकारों का अनुपात 1990 से 2017 तक दोगुना हो गया है। क्या आप विश्वास करेंगे कि हमारे देश में 15-29 वर्ष और 15-39 वर्ष के बीच के लोगों में मृत्यु का सबसे बड़ा कारण आत्महत्या है, किसी भी संक्रामक रोग या दूसरी किसी बीमारी से भी ज़्यादा? नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार 2018 में 10,159 विद्यार्थियों ने अपनी जान ले ली। 2017 में यह संख्या 9905 थी 2016 में 9478।

समाज में डिप्रेशन या अवसाद की असामान्य मानसिक अवस्था या मानसिक अव्यवस्था (मेण्टल डिसऑर्डर) तेज़ी से पसर रही है। बहुसंख्यक कामगार आबादी तो आज भी विकास के तमाम दावों के बावजूद दो जून की रोटी और जिन्दगी की न्यूनतम ज़रूरतें पूरी करने के लिए सुबह से शाम तक खटती और जूझती है और रात में सारी परेशानियों-तनावों को देसी दारू के गिलास में डुबोकर हलक के नीचे उतार लेती है और थोड़ी चीख-पुकार, गाली-गलौज और मारपीट के बाद उनकी झोपड़ियाँ नींद और अँधेरे में डूब जाती हैं। हालाँकि उनके बीच भी मानसिक बीमारियाँ और आत्महत्याएँ बढ़ रही हैं लेकिन अवसाद की समस्या उनसे बहुत अधिक मध्यवर्गीय आबादी के बीच दीखती है और इसमें निम्न-मध्य वर्ग से ले कर खाते-पीते खुशहाल परिवार तक शामिल हैं। कहीं न कहीं जैसे लोगों के जीवन का कुतुबनुमा खो गया है और वे अँधेरे समुद्र में भटके हुए

नाविक जैसा व्यवहार कर रहे हैं।

अवसादग्रस्त व्यक्ति कई बार एकाकी जीवन वाली अपनी उदास दुनिया से बाहर निकल किसी सार्थक दिशा में चल पड़ने का फैसला लेता है और कई बार दोस्तों, काउंसलिंग और मनोचिकित्सा तथा अपनी संकल्प शक्ति और तर्क शक्ति के सहारे सफल भी हो जाता है। पर कई बार ऐसा भी होता है कि बार-बार विफल होने के बाद अपने उदास एकान्त को ही वह अपनी नियति मान लेता है। कई मामलों में ऐसा भी होता है कि वह अपने घुटन -भरे अलगाव से बाहर निकलने का फैसला लेता है, यह तय करता है कि चल पड़ने की घड़ी आ गयी है और मौत की अन्धी खाई की तरफ चल पड़ता है।

बहुत से लोग बेहद संवेदनशील और भावप्रवण हुआ करते हैं, लेकिन उनमें प्रतिकूल स्थितियों से लड़ने के लिए ज़रूरी संकल्पशक्ति और चीमड़पन तथा तर्कणा की कमी होती है। पुराने दिनों में, ऐसे ही लोग विपरीत परिस्थितियों से टकराने और असफल होने पर अवसाद की गिरफ़्त में आ जाते थे। लेकिन, विशेषकर 1990 के बाद, नवउदारवाद के घटाटोप वाली दुनिया में हम जी रहे हैं, वह सिर्फ़ धार्मिक उन्माद, चरम पतनशील निरंकुश दमन की राजनीति और अपराध, भ्रष्टाचार, मँहगाई, बेरोजगारी आदि में अभूतपूर्व रफ़्तार से बढ़ोत्तरी की दुनिया ही नहीं है। यह भयंकर आत्मिक-सांस्कृतिक क्षरण और समाज में गहराते अलगाव, एकाकीपन, व्यक्तित्व के विघटन और दमघोंटू अवसाद की दुनिया भी है। इस दुनिया में आम नागरिकों के बीच, विशेषकर मध्य वर्ग के लोगों के बीच अवसाद और मानसिक अव्यवस्था की समस्या बड़े पैमाने पर और बहुत तेज़ी से फैली है। कई शोध-अध्ययन इस बात की गवाही देते हैं और मेरे परिचित कई मनोचिकित्सकों और काउंसिलिंग करने वालों ने भी इसकी तस्दीक की है। सामाजिक कामों के दौरान मैं सैकड़ों ऐसी स्त्रियों और पुरुषों से मिल चुकी हूँ जो महीनों से लगातार 'लो फ़ील' करते हैं, अन्यमनस्क रहते हैं, किसी चीज़ से उन्हें खुश होने को दिल नहीं करता, या तो सोते रहते हैं या फिर सोते ही नहीं, अपनी पुरानी प्रकृति के विपरीत बहुत कम बोलते हैं (या कभी-कभी बहुत बोलने लगते हैं), जीवन में उनकी दिलचस्पी ख़त्म हो जाती है और जीने को दिल नहीं चाहता। कई संगठनों के राजनीतिक कार्यकर्ताओं तक को मैंने डिप्रेशन का क्रॉनिक मरीज़ पाया है।

क्यों हैं ऐसे हालात? कौन-सा घुन है जो हमारे युवाओं को भीतर ही भीतर खाये जा रहा है? उम्मीदों और सपनों से भरी उम्र में नाउम्मीदी, चुप्पी, अकेलेपन और मौत का दामन क्यों थाम रहे हैं इस देश के नौजवान?

पूँजीवादी समाज में जब तक कुछ गति और ऊर्जस्विता बची हुई थी, तब तक समाज में अलगाव का घटाटोप इतना गहरा नहीं था। बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक तक का समय साम्राज्यवाद के साथ ही क्रान्तियों का भी कालखण्ड था। संघर्षों का वह दौर सपनों, उम्मीदों, सामूहिकता और सामाजिक सरगर्मियों का दौर था। इसलिए, तब अलगाव के परिणाम इतने बड़े पैमाने पर समाज में मानसिक अवसाद के घटाटोप के रूप में सामने नहीं आ सकते थे। मगर पिछले तीन दशकों का समय क्रान्तियों की पराजय और ऐतिहासिक गतिरोध का वह दौर रहा है, जब पूँजी के अश्वमेध का घोड़ा नवउदारवाद का परचम लहराते हुए पूरी दुनिया को रौंद रहा है। गतिरोध की स्थिति ने लोगों को जकड़ लिया है। उन्होंने शोषणमुक्त, न्यायपूर्ण समाज और सामाजिक मुक्ति-परियोजना के बारे में फ़िलहाली तौर पर सोचना बन्द कर दिया है। दूसरी ओर, पूँजीवादी विकास के साथ ही समाज में अलगाव और अकेलापन, आत्मग्रस्तता, स्वार्थपरता और कुण्ठाएँ बढ़ रही हैं। ऐसे में, लाज़िमी तौर पर, पूरे समाज में सघन उदासी और मायूसी का दमघोंटू धुआँ भरा कोहरा छा गया है और मानसिक अवसाद की बीमारी में व्यापक बढ़ोत्तरी देखने को मिल रही है। ज़ाहिर है कि जो रुग्ण सामाजिक ढाँचा इसके लिए जिम्मेदार है, उसे नष्ट किये बिना इस समस्या से निजात पाना सम्भव नहीं।

मानसिक अवसाद के कारण, मूलत: और मुख्यत:, अलग-अलग लोगों के व्यक्तिगत जीवन के और व्यक्तिगत पारिवारिक इतिहास में न होकर इस सामाजिक ढाँचे या व्यवस्था के भीतर निहित हैं। यह रुग्ण पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था ही है जो लोगों को मानसिक रोगी बना रही है। इस बात को सुसंगत रूप में समझने के लिए एलियनेशन या अलगाव की मनो-सामाजिक परिघटना के बारे में हमें जानना-समझना होगा। सब से पहले इसकी चर्चा हमें कार्ल मार्क्स की कृति '1844 की आर्थिक और दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ' में मिलती है। फिर इसके अलग-अलग पक्षों पर ग्योर्गी लुकाच, इस्तेवान मेस्जारोस, शैफ, शाक्तेल, ओलमान, ब्रैनिकी, जोसेफ़सन आदि विद्वानों ने विस्तार से लिखा। मार्क्स की बुनियादी स्थापना यह थी कि पूँजीवादी समाज में उत्पादन प्रक्रिया में जो श्रम-विभाजन होता है उसमें पृथक्कृत या वियोजित श्रम किसी व्यक्ति, समूह, संस्था या समाज को उसकी उत्पादक कार्रवाई के उत्पाद या गतिविधि के नतीजे से काट कर अलग कर देता है, फिर उस प्रकृति से काट कर अलग कर देता है जिसमें वह रहता है, फिर अन्य इंसानों से काट कर अलग कर देता है, फिर मानवीय गुणों और ऐतिहासिक रूप से सृजित मानवीय सम्भावनाओं से काट देता है और अन्तत: ख़ुद अपने आप से बेगाना बना देता है (सेल्फ़-एलियनेशन)।

थोड़े में कहें, तो पूँजीवाद मनुष्य को अधिशेष (सरप्लस) पैदा करने वाली मशीन में तब्दील कर उसके मानवीय गुणों, सामूहिकता, साहचर्य-भावना और सृजनात्मकता का अपहरण कर लेता है। जन-समुदाय सामूहिक तौर पर संगठित होकर जब पूँजीवाद की आपदाओं का प्रतिकार करता है तो प्रकारान्तर से वह अलगाव या एलियनेशन का भी प्रतिकार करता है। जब यह प्रतिकार पराजय और बिखराव का शिकार होता है और समाज ठहराव और उलटाव के दौर से गुज़रने लगता है तो लोगों का अलगाव और अकेलापन बढ़ने लगता है, जिसकी तार्किक परिणति समाज में बढ़ते मानसिक अवसाद और मानसिक अव्यवस्था के रुझान के रूप में सामने आती है। मक्सिम गोर्की ने अपने लेख 'व्यक्तित्व का विघटन' में इस परिघटना की अलग नज़रिए से व्याख्या की है। उनके अनुसार, पूँजीवाद के युग में,

और विशेषकर साम्राज्यवाद की चरम अवस्था में पहुँचकर, मनुष्य के समष्टिगत, सामाजिक व्यक्ति के विघटन की प्रक्रिया अपने चरम पर जा पहुँचती है जो रुग्ण व्यक्तिवाद, जनवाद-विरोधी प्रवृत्तियों, विविध सांस्कृतिक व्याधियों और मनोरोगों से समाज को भर देती है।

वयोवृद्ध पूँजीवाद ने समाज की ज़मीन को भाँति-भाँति के ज़हरीले रसायनों से पाटकर इंसानों की तरह-तरह के उदास नस्लों की फसलें तैयार की हैं। ये फसलें खुद भी अपनी ज़मीन को तबाह कर रही हैं, ऊसर बना रही हैं। चारों ओर अवसाद का अँधेरा छाया हुआ है। खोखली हँसी, मोबाइल पर बतियाते, इण्टरनेट पर चैटिंग करते, मशीनों की तरह भागते-दौड़ते, अकेलेपन के रौरव नरक में जीते लोग। आत्मनिर्वासित आत्माएँ। चमकदार चीजों के बीच बुझे हुए चेहरे।

अलगावग्रस्त, अवसादग्रस्त ऐसे लोगों की तो बात ही क्या की जाये, जिनकी कोई स्पष्ट जीवन दृष्टि, राजनीति या सामाजिक सरोकार नहीं होते। इण्टरनेट की आभासी दुनिया, उच्छृंखल इन्द्रिय-भोग, शराब और डिप्रेशन की गोलियों के सहारे दिन काटते निरर्थकता-बोध से ग्रस्त लोग मध्यवर्गीय समाज में तो, ऐसा लगता है, 50-60 फीसदी के आसपास पहुँच गये हैं। बाक़ी एक भारी आबादी उनकी है, जिन्होंने एक अदद नौकरी, एक बीवी, कुछ बच्चों और कुछ छोटे-छोटे निजी सपनों का पीछा करते हुए टुच्चई, ओछापन और कूपमण्डूकता भरी ज़िन्दगी काट देने के लिए अपने दिमाग को अनुकूलित कर लिया है। उनके बारे में तुलसी बाबा काफी पहले कह गये हैं: 'सबसे भले वे मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत-गति।' और जो सुरक्षित जीवन के चौहद्दी में प्रचुर सुख-सुविधाओं में लोट लगाते नौकरशाह, प्रोफेसर, पत्रकार, डॉक्टर, इंजीनियर वगैरह-वगैरह हैं – उनकी ज़िन्दगी में अगर झाँककर देखें तो पता चलेगा कि तमाम क्लब, पार्टियाँ, शराब, पर्यटन, आवारागर्दी – उनकी शाश्वत ऊब और बोरियत को दूर नहीं कर पातीं। पर ये लोग अपना जीवन छोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकते। वर्ग-स्वभाव इनके रोम-रोम में बसा होता है, इनका संस्कार होता है।

पूँजीवाद की शायद यह सब से बड़ी ताक़त है कि लोग चीज़ों की भीड़ में अकेले हो गये हैं। वे व्यस्त हैं, वे तमाम अपने जैसे लोगों के बीच हैं, लेकिन अकेले हैं। मन की शान्ति के लिए वे हास्ययोग कर रहे हैं, पर चतुर्दिक उदासी का सामूहिक अट्टहास गूँज रहा है।

ऐसे लोगों से मेरा कहना है, "यह अकेलापन आपको मार रहा है। अकेलापन एक जेल है। इस जेल में जीने की आदत मत डालिए। इससे बाहर निकलने की तरकीबें ईजाद कीजिए। टीवी का रिमोट रख दीजिए। हर समय कम्प्यूटर के सामने बैठकर आँखें फोड़ना बन्द कीजिए। किचेन में जा कर कुछ पकाइए। एक कप बढ़िया चाय पीजिए। आस-पास कुछ पेड़-पौधे लगाइए। मामूली लोगों से इतनी दूरी क्यों बरतते हैं? पास वाली मज़दूर बस्ती के चाय वाले की बेंच पर जा कर अड्डा जमाइए और गप्पें मारिए। वहीं फ़ुटपाथ वाले नाई से दाढ़ी बनवाइए। मज़दूरों से उनकी ज़िन्दगी के बारे में बातें कीजिए। उन्हें दोस्त बनाइए। इसमें कुछ समय लगेगा, पर यह मुमकिन है। इस तरह धीरे-धीरे अवसाद का ज़हर उतर जायेगा। अकेलेपन के दंश की पीड़ा कम हो जायेगी। आप एक बार फिर सहज-सामान्य मानवीय गुणों को अपने भीतर महसूस करने लगेंगे। जब आप इंसान की तरह जीना सीख जायेंगे, तो उन तमाम लोगों की लड़ाई में शामिल होने की ज़रूरत शिद्दत के साथ महसूस करने लगेंगे जो इंसान की तरह जीना चाहते हैं, लेकिन हाड़-तोड़ मेहनत वाली दिहाड़ी गुलामी, अभाव और अनिश्चितता के कारण ऐसा कर नहीं पाते। उनके लिए जीने की शर्त है विद्रोह करना। उनके विद्रोह में भागीदार बन कर आप भी अपनी ज़िन्दगी के नये मायने ढूँढ़ सकते हैं, उसकी ख़ूबसूरती को नये सिरे से पहचान सकते हैं और उसकी सार्थकता एवं सृजनशीलता का नये सिरे से संधान कर सकते हैं।'

कहा जाता है, दु:ख बाँटने से हल्का होता है। जो हरदम अपना निजी दु:ख बाँटकर जी हल्का करते रहते हैं, वे बहुत कमजोर व्यक्तित्व के लोग होते हैं। उनमें अपने निजी दु:खों का बोझ सँभाल पाने - झेल पाने की कूव्वत और माद्दा नहीं होती। ऐसे लोग ज़माने के दु:खों के साथ तदनुभूति की क्षमता नहीं हासिल कर पाते। वे आत्मग्रस्त होते हैं और आत्मकातर भी। हमदर्दी ख़ोरी भी हरामख़ोरी से कम बुरी चीज़ नहीं होती। कुछ लोग अपनी कविताओं में या सोशल मीडिया पर भी अपने निजी दु:खों, उदासियों, तनहाइयों वगैरह का खोमचा सजाकर बैठ जाते हैं। ऐसे लोग आत्मकेन्द्रित तो होते ही हैं, प्राय: सामाजिक सरोकारों का दिखावा करते हुए भी उनसे रिक्त होते हैं। अपने निजी दु:खों-त्रासदियों के बोझ को तो हर ख़ुद्दार और संजीदा इंसान स्वयं ही लेकर चलता है। दु:ख और त्रासदियाँ तो उदात्त और काव्यात्मक जीवन का हिस्सा होती हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि अपने निजी दु:खों का बोझ ढोते रहने में ही अपने को खपा न दिया जाये। यह भी व्यक्तित्व की कमज़ोरी और आत्मग्रस्तता ही होगी। जो निजी दु:ख किसी मानवीय त्रासदी या इत्तफ़ाक़ के चलते हमारे मत्थे आ जाते हैं, उन्हें तो अपने ही स्तर पर झेलकर व्यक्तित्व का इस्पातीकरण और उदात्तीकरण किया जाना चाहिए। जिन दु:खों के कारण सामाजिक हों, उनका आलोचनात्मक विवेक के साथ विश्लेषण किया जाना चाहिए, उनका सामान्यीकरण किया जाना चाहिए, उन्हें ज्ञानात्मक संवेदन और फिर संवेदनात्मक ज्ञान के रूप में ढाला जाना चाहिए। फिर सामाजिक कारणों से उत्पन्न उस दु:ख की शिकार बहुसंख्या के साथ जुड़कर उस दु:ख से मुक्ति के सामूहिक उद्यम में भागीदारी में अपने जीवन की सार्थकता का संधान किया जाना चाहिए।

अलगाव (एलियनेशन) का शिकार विघटित व्यक्तित्व वाला, बुर्जुआ समाज का औसत नागरिक निजी त्रासदियों और 'चांस' से टूट पड़े दु:खों को ही नहीं, बल्कि सामाजिक कारणों से पैदा हुए दु:खों को भी नितान्त अतार्किक ढंग से एकदम निजी स्तर पर जीता है। वह तर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण से रिक्त होता है। सामाजिक जीवन और उत्पादक गतिविधियों से कटाव के चलते उसे जनता की इतिहास-निर्मात्री शक्ति और समाज-परिवर्तन के

सचेतन उपक्रमों में भरोसा नहीं होता। जन समुदाय उसके लिए अमूर्त प्रत्यय होता है और इतिहास पढ़कर भी वह इतिहास-बोध नहीं हासिल कर पाता। जनता और विज्ञान से कटकर ऐसा आत्मग्रस्त व्यक्ति दुर्बलमना और कायर हो जाता है। वह बस अपने ही दु:खों में घुलता-छीजता रहता है, अपने पर दया करता रहता है, अपने क़रीबी लोगों से भी यही चाहता है और ऐसा नहीं होने पर अमूर्त मनोगत शिक़ायतों-झुँझलाहटों से भरा रहता है। आश्चर्य नहीं कि आज के रुग्ण और सांस्कृतिक-आत्मिक रूप से दिवालिया बुर्जुआ समाज में अवसाद (डिप्रेशन) के शिकार लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। डॉक्टर इस रोग के शिकार व्यक्ति को दवाओं के सहारे बस ताउम्र नॉर्मल बनाये रखने की कोशिश कर सकते हैं। ऐसा रोगी वास्तव में स्वस्थमानस तभी हो सकता है, जब वह अपनी मानसिक व्याधि के सामाजिक कारणों को विश्लेषण करके समझ सके और अपनी पूरी संकल्पशक्ति जुटाकर जनता के बीच जाये तथा सामाजिक सरगर्मियों में ख़ुद को दिलो-जान से झोंक दे।

अक्सर कई वामपंथी राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी डिप्रेशन का शिकार होते और आत्महत्या तक करते सुना गया है। अक्सर यह उन्हीं के साथ होता है जो मध्यवर्गीय रूमानी भावुकता के साथ क्रान्ति करने तो आ जाते हैं, लेकिन लम्बा समय गुज़रने के बाद भी क्रान्ति के विज्ञान को नहीं समझ पाते, जनता की इतिहास निर्मात्री शक्ति को नहीं जान पाते, अवचेतन रूप से क्रान्ति को नायकों का (जिनमें वे स्वयं को भी शामिल मानते हैं) कारनामा मानते हैं और हार-जीत से भरी एक विश्व-ऐतिहासिक प्रक्रिया की जगह उसे यांत्रिक ढंग से तयशुदा एक समयबद्ध लक्ष्य मानते हैं। पराजय, विचलन, विपर्यय और विघटन के दौर ऐसे लोगों के आशावाद और रोमानी यूटोपियाई आदर्शों को चूर-चूर कर देते हैं और तब ऐसे लोग निराशा और फिर अवसाद की अतल गहराइयों में डूबते चले जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि और इतिहास-बोध को लगातार मज़बूत बनाते हुए, जनता की ज़िन्दगी और संघर्षों से लगातार अटूट और गहरा रिश्ता बनाने की कोशिश करते हुए, तथा, अपने सहयोद्धा साथियों के साथ विश्वास और कामरेडशिप के बाण्ड को लगातार दृढ़ से दृढ़तर बनाते हुए ही एक क्रान्तिकारी निराशा और अवसाद के प्रेतों से लड़ सकता है, साहस, ताज़गी, ऊर्जस्विता और सृजनशीलता के अक्षय स्रोतों से अपना रिश्ता बनाये रख सकता है, और शोक को शक्ति में बदलने का जादुई हुनर हासिल कर सकता है।

पूँजीवादी शोषण के साथ-साथ अलगाव और सांस्कृतिक रिक्तता मेहनतकशों से भी इंसान की तरह जीने की बुनियादी शर्तें छीन लेती है, विमानवीकरण का शिकार उनका भी एक हिस्सा होता है। उनके पास अन्य वर्गों की तरह जीवन का कोई भी (मिथ्याभासी या रुग्ण) विकल्प नहीं होता, इसलिए वे विद्रोह करते हैं। फिर एक वैज्ञानिक विचारधारा को पकड़ते हैं और क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़ते हैं। जबतक वे लड़ते नहीं, तबतक उनकी ज़िन्दगी असह्य घुटन भरी होती है। यदि वे स्फुट, छोटे-छोटे आन्दोलनों में भी उतरने लगते हैं तो सक्रिय एकजुटता उनके जीवन में व्याप्त अलगाव का विष पीने लगती है और 'भविष्य की कविता' उनके जीवन को संवेदित करने लगती है।

मेरा मानना है कि यदि आपके साथ हर समय कुछ समान लक्ष्य, समान विचार और समान कार्यदिशा वाले लोग हों (बेशक़ उनमें से कुछ साथ छोड़ते रहेंगे, कुछ पतित भी होते रहेंगे) यदि आप उन साथियों को लेकर समाज के सबसे दबे कुचले लोगों के बीच काम करते हों, उनके जीवन, संघर्षों और सपनों से जैविक ढंग से जुड़े हों, और यदि, पूर्वज पीढ़ियों के विचारों और संघर्षों की विरासत से आपने इतिहास-बोध एवं वैज्ञानिक दृष्टि हासिल की हो, तो आप कभी भी अवसाद या अकेलेपन के हाथों मारे नहीं जायेंगे। आप उनका मुकाबला करने में सक्षम होंगे। ऊर्जा के यही तीन अक्षय स्रोत हैं – जन समुदाय से एकता, समान लक्ष्य वाले साथियों का साथ और जनता के जीवन और संघर्षों के इतिहास से अर्जित जीवन दृष्टि। वर्ग समाज में परवरिश ने हमें संस्कार दिये हैं कि हम जीवन में भी "नियंत्रित अनुकूलित विद्रोह" चाहते हैं, क्रान्ति को जीने का तरीक़ा बनाने के बजाय गारण्टीशुदा समयबद्ध क्रान्ति की स्कीम चाहते हैं, उड़ान भरना भी चाहते हैं तो चौहद्दी नापकर, सम्पति की व्यवस्था की आपदाओं-अभिशापों से लड़ना भी चाहते हैं तो सम्पत्ति-सम्बन्धों से निर्णायक तो क्या आंशिक तक विच्छेद किये बिना। ऐसे में बीच राह में निराशा और पस्ती के गड्ढों में धँस जाने का ख़तरा हमेशा मौजूद रहता है।

भारत ही नहीं, हर पूँजीवादी समाज में मानसिक स्वास्थ्य की पूरी समझ पर जैववैज्ञानिक व्याख्याएँ हावी हैं। चिकित्सकों से लेकर आम लोगों के बीच प्रचलित समझ इसी सोच से प्रभावित है कि सारी दिमाग़ी परेशानियों की जड़ में कुछ केमिकल लोचा होता है। इसके इलाज का सारा फ़ोकस सेरोटोनिन और डोपामाइन जैसे न्यूरोट्रांसमिटर्स के काम करने पर रहता है। अब मानसिक परेशानियों के आनुवंशिक कारणों पर काफ़ी ज़ोर दिया जाने लगा है। अलग-अलग मामलों में मानसिक विकारों को समझने में जैववैज्ञानिक व्याख्याओं से मदद ज़रूर मिलती है, लेकिन अपनेआप में ये कतई नाकाफ़ी होते हैं। जो बात बहुत साफ़ है वह यह कि मानसिक स्वास्थ्य सबसे अधिक सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है।

मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक परिस्थितियों के बीच करीबी रिश्तों पर अक्सर पर्दा डाला जाता है और सामाजिक कारणों को जैव-चिकित्सीय फ़्रेमवर्क के भीतर रखकर ही समझने की कोशिश की जाती है और जटिल वैज्ञानिक शब्दावली से इसे ढँक दिया जाता है। ज़्यादातर मामलों में रोग निदान व्यक्ति या परिवार तक सीमित रहता है। लोगों के मानसिक स्वास्थ्य पर समाज के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संगठन के प्रभाव को आम तौर पर मान्यता नहीं दी जाती। इसीलिए, मानसिक अवसाद की बीमारी का फ़ौरी इलाज भले ही मनोचिकित्सा और काउंसिलिंग द्वारा हो, पर इसका मुकम्मिल इलाज तो सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर ही सम्भव है।

●

सामयिकी

मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और कृषि प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी लोकरंजकतावाद के एक दरिद्र संस्करण की समालोचना

वारुणी

कुलक किसान आन्दोलन को शुरू हुए क़रीब दो महीने से ऊपर हो चुके हैं। तीन कृषि क़ानूनों के ख़िलाफ़ शुरू हुए इस आन्दोलन ने समूचे वाम के कई हलकों में किसान प्रश्न पर उनकी अवस्थितियों को साफ़ कर दिया है। आज आन्दोलन की अपनी गति से यह साफ़ हो चुका है कि यह आन्दोलन मूलत: और मुख्यत: लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बरक़रार रखने और बढ़ाने की लड़ाई है और इसलिए यह कोई आम मेहनतकश किसानों, यानी सीमान्त, ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों का आन्दोलन नहीं है, भले ही इन वर्गों से भी मौजूदा आन्दोलन में कुछ भागीदारी हो रही है। जारी आन्दोलन के साथ ही आम तौर पर किसान प्रश्न पर और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर सर्वहारा वर्ग की अवस्थिति क्या हो, इस पर वाम में कई बहसें जारी हैं।

हमारा स्पष्ट तौर पर मानना है कि पहले दो कृषि क़ानूनों, यानी, फ़ार्मर्स प्रोड्यूस ट्रेड एण्ड कॉमर्स (प्रमोशन एण्ड फैसिलिटेशन) एक्ट 2020 और फ़ार्मर्स (एम्पावरमेण्ट एण्ड प्रोटेक्शन) एग्रीमेण्ट ऑन प्राइस अश्योरेंस एण्ड फ़ार्म सर्विसेज़ एक्ट, 2020, से सर्वहारा वर्ग, सीमान्त, छोटे और निम्न मँझोले किसान और खेतिहर मज़दूर की ज़िन्दगी पर सिर्फ़ इतना असर पड़ेगा कि पहले मुख्य रूप से धनी पूँजीवादी भूस्वामियों व पूँजीवादी फ़ार्मरों द्वारा उनका शोषण किया जाता था, और इन पहले दो क़ानूनों के लागू होने से उस शोषण में अब बड़े एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग यानी कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग की बढ़ती हिस्सेदारी का रास्ता साफ़ हो जायेगा। धनी किसानों-कुलकों, सूदख़ोरों (जो अक्सर स्वयं धनी किसान ही होते हैं!), आढ़तियों-बिचौलियों (जो अक्सर स्वयं धनी किसान ही होते हैं!) द्वारा पहले भी खेतिहर मज़दूरों की लूट, ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों की लूट और उनका उजड़ना जारी था।

खेती के क्षेत्र में खेतिहर पूँजीपति वर्ग का वर्चस्व था और उजड़ने वाले अधिकांश ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों के उजड़ने का सबसे बड़ा कारण सूद, लगान और मुनाफ़े के ज़रिये खेतिहर पूँजीपति वर्ग (धनी किसान-कुलक वर्ग) द्वारा उनका शोषण ही था, यह बात तथ्यों से स्पष्ट है। कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश के बाद भी उनका शोषण पूर्ववत जारी रहेगा, हालाँकि उनके प्रमुख शोषकों की स्थिति में अधिक से अधिक बड़ा इजारेदार पूँजीपति वर्ग आता जायेगा। धनी किसान-कुलक वर्ग, सूदख़ोर, आढ़तिये खेती के क्षेत्र में बड़ी इजारेदार पूँजी के प्रवेश के विरुद्ध हैं और उन्हें मिलने वाले राजकीय संरक्षण, खेती में अपने आर्थिक वर्चस्व और एकाधिकार को बनाये रखना चाहते हैं। वर्तमान किसान आन्दोलन मुनाफ़े में अपनी हिस्सेदारी को सुनिश्चित करने के लिए धनी किसानों की लड़ाई है और इसलिए वे लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को क़ानूनी जामा पहनाने की माँग कर रहे हैं।

इन तीन कृषि क़ानूनों में सिर्फ़ तीसरा क़ानून मज़दूरों-मेहनतकशों के सीधे विरोध में जाता है क्योंकि यह जमाख़ोरी और काला बाज़ारी को बढ़ाने की छूट देता है जिससे बुनियादी वस्तुओं की क़ीमतों में कृत्रिम रूप से बढ़ोत्तरी होगी। इस तीसरे क़ानून के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग, ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों और समूची आम मेहनतकश आबादी के राजनीतिक रूप से स्वतंत्र आन्दोलन को संगठित करने की आवश्यकता है।

'आह्वान' के पिछले अंक में तीनों कृषि क़ानूनों पर एक लेख में हमारी पूरी अवस्थिति को स्पष्ट किया गया था। इसके साथ ही वाम हलकों के कई संगठनों द्वारा किसान आन्दोलन के समर्थन में दिये जा रहे तमाम तर्कों का तथ्यत: और तर्कश: खण्डन भी प्रस्तुत किया गया था।

अभी भी उन पुराने तर्कों को ही कुछ संगठनों द्वारा नये रूप में और ज़्यादा अज्ञानतापूर्ण रूप में दोहराया जा रहा है। इन तमाम पुराने तर्कों को ही अधिक अर्थहीन रूप में दुहराते हुए पटना में सक्रिय एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतृत्व ने एक नया ही "यथार्थ" उजागर कर डाला है! इस चमत्कृत कर देने वाले नये "यथार्थ" पर बात करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि यह संगठन उन पाठकों में एक विभ्रम पैदा कर रहा है जो सोवियत सत्ता द्वारा किसान प्रश्न पर अपनायी गयी नीतियों से परिचित नहीं हैं और साथ ही उचित

दाम का भ्रामक नारा उछालकर यह धनी किसानों-कुलकों की पालकी का कहार बनने के अपने अवसरवाद को वैध ठहराने का प्रयास कर रहा है।

इस क़वायद में इस मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन के नेता महोदय ने अपने लेख में सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग के इतिहास और कृषि प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों, दोनों के ही साथ मनमाने तरीके से ज़ोर-ज़बर्दस्ती की है। यह हरक़त इन्होंने सोवियत समाजवाद के इतिहास और कृषि प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी प्रश्न के विषय में अपने अज्ञान के कारण की है, या फिर सोची-समझी मौकापरस्ती के तौर पर की है, इसका फ़ैसला हम पाठकों पर छोड़ देते हैं, हालाँकि हमें इसमें अज्ञान और अवसरवाद दोनों का ही मिश्रण नज़र आता है। आइये देखते हैं कि लेखक महोदय यह उपलब्धि किस प्रकार हासिल करते हैं।

●

लेखक ने अपनी अवस्थिति रखते हुए सोवियत समाजवादी संक्रमण के दौरान अलग-अलग दौरों में किसान प्रश्न पर अपनायी गयी नीतियों को बड़े अज्ञानतापूर्ण और अवसरवादी तरीके से ऐसे पेश किया है जिससे कि वे मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन की पूँछ में कंघी कर सकें और बदले में उन्हें समाजवादी व्यवस्था के पक्ष में खड़ा कर दें!

इसके लिए लेखक महोदय कुलक और धनी किसानों को यह कह कर सर्वहारा क्रान्ति करने के लिए ललकारते हैं कि सिर्फ़ एक सर्वहारा राज्य ही किसानों को उनकी पूरी उपज की उचित दाम पर खरीद की गारंटी कर सकता है। लेकिन यह उचित दाम क्या हो इसपर वह खुलकर कुछ नहीं बोलते! क्या यह व्यापक लागत के ऊपर 40-50 प्रतिशत का मुनाफ़ा होगा (जो अभी लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के ज़रिये मिलता है) या फिर कुछ और? यह भी एक सोचे-समझे तौर पर की गयी चालाकी है, क्योंकि सीधे लाभकारी मूल्य का समर्थन करते हुए सर्वहारा वर्ग की नुमाइन्दगी की बात करना थोड़ा हास्यास्पद हो जाता है। इसलिए उचित दाम का अस्पष्ट जुमला उछाला गया है और उसे लेखक महोदय ने अपने लेख में कहीं भी परिभाषित नहीं किया है। लेकिन लेख के स्वर से स्पष्ट है कि लाभकारी मूल्य को ही उचित दाम माना गया है, क्योंकि लेखक लाभकारी मूल्य के लिए हो रहे धनी किसानों के आन्दोलन का समर्थन करते हुए ही उचित दाम की वकालत कर रहा है और साथ ही यह भ्रामक वायदा कर रहा है कि जिस प्रकार सोवियत समाजवादी सत्ता ने किसानों को उचित दाम देकर उनकी सारी उपज ख़रीदी थी(??), उसी प्रकार भारत में भी सर्वहारा सत्ता ही किसानों को उचित दाम देकर उनकी सारी उपज ख़रीदेगी! लेखक महोदय तमाम अस्पष्टताएँ रखते हुए और सोवियत समाजवादी इतिहास का विकृतिकरण करते हुए ज़्यादा सयानापन दिखाने के चक्कर में सीधे अवसरवाद के पंककुण्ड में छलाँग लगा गये हैं। आगे हम देखेंगे कि यह कारनामा इन्होंने कैसे किया है।

पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय ने एक और अवसरवादी चालाकी करने का प्रयास किया है। लेख में जहाँ मन होता है वह पूँजीवाद के मातहत किसानों को वर्ग-विभाजित समुदाय बताते हैं (जो कि सही है!) और जहाँ भी उन्हें मौजूदा धनी किसान आन्दोलन की गोद में बैठना होता है, वहाँ वे उसे एक सजातीय या एकाश्मी समुदाय के रूप में पेश करते हैं। लेकिन यह चालाकी कम और बेवकूफ़ी ज़्यादा है क्योंकि इसकी वजह से हमारे लेखक महोदय का लेख मूर्खतापूर्ण विरोधाभासों से भर जाता है।

इन दो चालाकियों से लेखक महोदय कुछ सीधे-सीधे सवालों का सीधा-सीधा उत्तर देने की बजाय अवसरवाद की पतली गली से कटकर निकले हैं, जो सीधे सिंघू और टीकरी बॉर्डर पर खुलती है! ये सवाल हैं: क्या लाभकारी मूल्य उचित दाम है? मार्क्सवादी-लेनिनवादी अर्थों में उचित दाम क्या होता है? बुर्जुआ जनवादी अर्थों में उचित दाम क्या होता है? क्या लाभकारी मूल्य की माँग गुज़ारे योग्य आय की माँग है, या यह बेशी मुनाफ़े समेत मुनाफ़ाख़ोरी की माँग है? लाभकारी मूल्य की माँग ग़रीब व निम्न-मँझोले किसान वर्ग के पक्ष में है या उनके ख़िलाफ़ जाती है? इसी प्रकार के कई सीधे और स्पष्ट सवाल हैं, जिनका जवाब देने में पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय की टाँगें काँप जाती हैं और इसलिए वे गोलमाल करते हुए, अस्पष्ट बातें करते हुए, इतिहास का विकृतिकरण करते हुए और सबसे अहम, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण करते हुए कुलकों की गोद में जा बैठते हैं और उनसे उचित दाम का वायदा करते हैं!

वे किसान प्रश्न पर सोवियत नीति पर कुछ बातें बताते हैं और कुछ बातों पर मौकापरस्ती से चुप्पी साध लेते हैं। अब चूँकि उन्हें इसी धनी किसान-कुलक आन्दोलन पर सवार होकर सर्वहारा क्रान्ति करनी है (इन महोदय का मानना है कि भारत में भावी सर्वहारा क्रान्ति धनी किसानों-कुलकों के इसी प्रकार के आन्दोलन की लहर पर सवार होकर आयेगी!), इसलिए वे खेती के क्षेत्र में अलग-अलग दौरों में लागू की गयी बोल्शेविक नीतियों के बारे में सफेद झूठ बोलते हैं, तथ्यों का विकृतिकरण करते हैं और तमाम ऐसी बातों को छिपा लेते हैं, जिन्हें अगर वे मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के मंच से बताते तो पूरी सम्भावना थी कि धनी किसान-कुलक नेतृत्व उनकी अन्य ठोस-भौतिक माध्यमों से आलोचना करके उनके ज्ञान-चक्षु खोल देता! शायद लेखक महोदय भी इन जोखिम भरी सम्भावनाओं से वाकिफ़ हैं और इसलिए बोल्शेविक क्रान्ति के बाद किसान प्रश्न व आम तौर पर खेती के सवाल पर लागू की गयी नीतियों के बारे में सही बातें छिपा रहे हैं, या, और इसकी भी पूर्ण सम्भावना है, इन महोदय ने सोवियत समाजवाद के इतिहास के बारे में कुछ पढ़ा ही न हो।

लेकिन दूसरी सूरत में भी, यानी यदि आपने सोवियत समाजवाद के इतिहास के विषय में कुछ पढ़ा ही नहीं, तो आपको इस बारे में चुप रहना चाहिए और पहले अध्ययन व जाँच-पड़ताल करके लिखना चाहिए; जैसा कि माओ ने कहा था, कोई जाँच-पड़ताल नहीं, तो बोलने का कोई अधिकार नहीं! लेकिन पीआरसी सीपीआई (एमएल) के हमारे नेता महोदय धनी किसानों-कुलकों की गोद में बैठने को इतने बेताब हैं कि अपनी पुस्तिका और लेख में बिना किसी अध्ययन, बिना किसी जाँच-पड़ताल के ऊलजलूल बकवास करते चले गये हैं!

हमारे लेखक महोदय न सिर्फ़ किसान प्रश्न पर बोल्शेविक नीतियों के विषय में इतिहास का अवसरवादी विकृतिकरण करते हैं बल्कि कुछ अन्य नयी-नयी खोजों के साथ और कई पुराने तर्कों को ही नये रूप में दोहराते हुए, अपने आलेख में मुख्यतः लाभकारी मूल्य के समर्थन को एक क्रान्तिकारी स्टैंड साबित करने की कोशिश करते हैं। लाभकारी मूल्य को सभी किसानों के अस्तित्व रक्षा की लड़ाई के रूप में पेश कर के वह इस नये "यथार्थ" पर पहुँचते हैं कि क़ानूनी लाभकारी मूल्य की लड़ाई असल में किसानों की पूरी उपज की सरकारी खरीद की गारंटी से जुड़ी हुई लड़ाई है और उनके अनुसार किसानों की पूरी उपज की उचित दाम पर सरकारी खरीद की गारंटी चूँकि एक मात्र सर्वहारा राज्य कर सकता है, इसलिए कुलकों के इस आन्दोलन का समर्थन कर उन्हें अपने साथ लेते हुए सर्वहारा क्रान्ति के लिए ललकारना होगा!

इस प्रकार के कई सारे नये "यथार्थ" पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता व लेखक महोदय अपने आलेख में खोज निकालते हैं और इन सारी बातों को वह ऐसे प्रस्तुत करते हैं जिससे कि वे धनी किसानों और कुलकों के भी लाड़ले बने रहें और मज़दूर वर्ग के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते प्रतीत हों!!

यह काम वह कैसे अहमकाना तर्कों और इतिहास के विकृतिकरण के साथ करते हैं, यह हम नीचे उन्हें उद्धृत करते हुए सिलसिलेवार तरीके से दिखलायेंगे। लेकिन सबसे पहले हम उनकी नई खोजों के ज़रिये लाभकारी मूल्य के समर्थन तक पहुँचने की उनकी विकास प्रक्रिया को जानेंगे, उसके बाद सिलसिलेवार तरीके से हम उनकी सच्चाई सामने रखेंगे।

लाभकारी मूल्य की माँग के समर्थन को क्रान्तिकारी अवस्थिति साबित करने के लिए गढ़े गये कुतर्क

लेखक महोदय अपने पूरे आलेख में लाभकारी मूल्य के समर्थन को क्रान्तिकारी साबित करने के लिए नए-नए "यथार्थ" खोज निकालते हैं!

उनको पहला इल्हाम यह होता है कि आन्दोलन भले ही लाभकारी मूल्य की माँग पर केन्द्रित है लेकिन क़ानूनी लाभकारी मूल्य की माँग के तहत पूरी किसान आबादी एकजुट हो गयी है (और इसलिए कम्युनिस्टों को उसका समर्थन करना चाहिए!)। लेखक महोदय लिखते हैं:

"स्वयं धनी किसान पूँजीवादी कृषि के दलदल में फँस गये हैं|...निर्णायक वर्चस्व की ओर कॉरपोरेट के बढ़ते कदमों ने अलग-अलग संस्तर में बँटे होने के बावजूद पूरे किसान समुदाय को एकताबद्ध कर दिया है।"

जिन अर्थों में धनी किसान पूँजीवादी व्यवस्था में फँसे हैं, उन अर्थों में तो अपेक्षाकृत सभी छोटे और ग़ैर-इजारेदार पूँजीपति पूँजीवादी व्यवस्था में फँसे हैं और उस आधार पर पीआरसी सीपीआई (एमएल) को पूँजीवादी उदारीकरण के कारण अरक्षित अवस्थाव में पहुँच गये सारे छोटे पूँजीपतियों का आह्वान करना चाहिए कि वे एकजुट होकर कॉरपोरेट पूँजी का विरोध करें और पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय को इन बेचारे छोटे पूँजीपतियों से यह वायदा भी करना चाहिए कि जब उनके नेतृत्व में समाजवादी सत्ता आयेगी, तो वह उन्हें बरबाद होने से बचायेंगे और मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाला उचित दाम मुहैया करायेंगे! निश्चय ही धनी किसान व कुलक वर्ग और समूचे छोटे व मँझोले पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा भी उत्तरोत्तर पूँजीवादी विकास के साथ बरबाद होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे धनी किसानों व कुलकों की पूँजीवादी लूट की वजह से ग़रीब और सीमान्त किसानों का अच्छा-ख़ासा हिस्सा 'हरित क्रान्ति' के बाद बरबाद होता आया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता है कि छोटे और मँझोले पूँजीपति वर्ग (जिसमें कि धनी किसान-कुलक वर्ग भी शामिल है) को बचाने का नारा सर्वहारा वर्ग बुलन्द करे और सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी को उनका पिछलग्गू बना दे! सर्वहारा वर्ग उन वर्गों की मुक्ति की परियोजना नहीं पेश करता है जो कि नियमित तौर पर उजरती श्रम का शोषण कर मुनाफा कमाते हैं; सर्वहारा वर्ग उन शोषक वर्गों से उन वर्गों की मुक्ति की परियोजना पेश करता है, जो स्वयं उजरती श्रमिक, अर्द्धसर्वहारा हैं या जो स्वयं उजरती श्रम के शोषक नहीं हैं। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का 'क ख ग' है। टुटपुँजिया रूमानीवाद, नरोदवाद और लोकरंजकतावाद के मस्तिष्क ज्वर के कारण अपने आप को मार्क्सवादी कहने वाला व्यक्ति भी कैसी अगड़म-बगड़म बक सकता है, इसे समझना है, तो आप खेती के सवाल पर पीआरसी सीपीआई (एमएल) की पुस्तिका पढ़ सकते हैं!

लेखक महोदय द्वारा अन्वेषित दूसरा "यथार्थ" यह है कि वर्तमान आन्दोलन में धनी किसान और छोटे-मँझोले किसान न सिर्फ़ कॉरपोरेट पूँजी के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं बल्कि 'मुक्त व्यापार' की व्यवस्था से ही उनका भरोसा उठ गया है! जनाब लिखते हैं:

नये कृषि क़ानूनों के आने के बाद आम किसानों में क़ानूनी लाभकारी मूल्य के रूप में लाभकारी मूल्य की माँग को एक नवजीवन प्राप्त हुआ दीखता है, खासकर एक बड़ी तबाही और आपदा से बचाव हेतु एकमात्र उपाय व सहारे के रूप में, जबकि

खुले बाज़ार में ऊँचे दाम की उत्प्रेरणा एक प्रवृत्ति के बतौर मौजूद होने के बावजूद व्यापक किसान ही नहीं धनी किसानों के व्यापक हिस्सों के बीच भी वास्तविक तौर पर ख़त्म हो चुकी है या पूर्व की तुलना में न के बराबर है। क्यों? क्योंकि ग़रीब तथा मँझोले किसान पिछले तीन दशक के पूँजीवादी कृषि के अन्तर्गत ठीक इसके दुष्परिणाम के चक्कर में तबाह और बरबाद हो चुके हैं और धनी किसान की बात करें तो पिछले एक दशक के दौरान खुले बाज़ार में दामों में आये भयंकर उतार-चढ़ाव के कारण वे भी इसके आकर्षण से विमुख हुए हैं। (ज़ोर हमारा)

इसी "यथार्थ" से प्रस्थान करते हुए कि किसानों का 'मुक्त व्यापार' से भरोसा उठा गया है और खुले बाज़ार में ऊँचे दाम नहीं मिलने के कारण किसान आबादी क़ानूनी लाभकारी मूल्य की माँग कर रही है, हमारे लेखक महोदय इस माँग को उनके अस्तित्व रक्षा की लड़ाई से जोड़ देते हैं। लेखक महोदय को यह बताना चाहिए कि लाभकारी मूल्य धनी किसानों-कुलकों को ऊँचे दाम देता है या नहीं? और यदि लाभकारी मूल्य मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाले ऊँचे दाम हैं, तो वे उचित दाम हैं या नहीं? और अगर वे उचित दाम नहीं हैं, तो उनके अनुसार उचित दाम क्या है और जब भारत में समाजवाद और सर्वहारा सत्ता आयेगी तो वह कौन सा उचित दाम देंगे? और अगर वह लाभकारी मूल्य (profitable remunerative price) नहीं होगा, तो यह बात भी उन्हें अपने लेख में स्पष्ट तौर पर लिखनी चाहिए और धनी किसानों-कुलकों को बतानी चाहिए?

लेकिन इन तमाम अस्पष्टताओं के बावजूद सच्चाई यह है कि लाभकारी मूल्य को लेखक महोदय अस्तित्व की लड़ाई बताकर एक प्रकार से उचित दाम ही मान रहे हैं! इस प्रकार वह लाभकारी मूल्य की पूरी परिभाषा को ही उलट देते हैं ताकि लाभकारी मूल्य के माँग के समर्थन को सही साबित कर सकें। लेकिन फिर यह दावा कि सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में इस प्रकार का उचित दाम दिया जाता था, लेखक महोदय का कोरा झूठ और सोवियत समाजवाद के इतिहास का विकृतिकरण है। सोवियत संघ के इतिहास के बारे में तमाम संशोधनवादियों ने 'नई आर्थिक नीति' के 'रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने' (strategic retreat) को समाजवादी निर्माण की आम रणनीति बताकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण किया था, जिसकी सारवस्तु था राज्यसत्ता को उत्पाद-कर (tax-in-kind) देने के बाद, खुले बाज़ार में खेती उपज के विपणन की आज़ादी; लेकिन पीआरसी सीपीआई (एमएल) संशोधनवादियों से भी एक कदम आगे जाकर सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा लाभकारी मूल्य दिलवाने का वायदा कर रहे हैं, और साथ ही सोवियत किसान नीति की अन्य बातों को धनी किसानों-कुलकों से छिपाने का काम कर रहे हैं, जैसे कि ज़मीन का सही मायने में राष्ट्रीकरण, उजरती श्रम के शोषण पर रोक, इत्यादि। यह घटिया दर्जे की मौकापरस्ती है।

पर हमारे लेखक महोदय यहीं नहीं रुकते! वह आगे इस "यथार्थ" पर आधारित आज के कार्यभार बताते हैं! वे कहते हैं:

ऐसे में इन क़ानूनों की वापसी पर अड़ना और वैधानिक गारंटी वाले लाभकारी मूल्य की माँग के ज़रिये पूरे किसान समुदाय को संगठित व जागृत करना तथा इस तरह कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध उठा खड़ा होना नितान्त आवश्यक है। (ज़ोर हमारा)

यानी लाभकारी मूल्य का समर्थन करने, उसे वैधानिक अधिकार बनाने की माँग करना और इस माँग पर समूचे किसान समुदाय को संगठित करना आज क्रान्तिकारियों का कार्यभार है! मतलब, लेखक महोदय के अनुसार, पहले तो कम्युनिस्टों को धनी किसानों-कुलकों की मुनाफ़ाख़ोरी की माँग के समर्थन में ग़रीब मेहनतकश किसानों और मज़दूरों को उनका पुछल्ला बनाना चाहिए और फिर छोटे पूँजीपति वर्ग (खेतिहर बुर्जुआज़ी) की ज़मीन पर खड़े होकर बड़ी पूँजी (कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग) का विरोध करना चाहिए। संक्षेप में, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को टुटपुँजिया रूमानीवाद, लोकरंजकतावाद और नरोदवाद में बहकर मज़दूर आन्दोलन को छोटी पूँजी की सेवा में सन्नद्ध करने का नुस्खा बता रहे हैं!

सर्वहारा वर्ग का काम छोटी पूँजी के बड़ी पूँजी के विरुद्ध विद्रोह का समर्थन करना नहीं है। लेनिन के इस उद्धरण पर हमारे लेखक महोदय ने ग़ौर किया होता तो ऐसी हास्यास्पवद बातें न कर रहे होते:

साम्राज्यवाद हमारा उतना ही 'घातक' शत्रु है जितना कि पूँजीवाद है। ऐसा ही है। कोई मार्क्सवादी कभी भूलेगा नहीं कि पूँजीवाद सामन्तवाद की तुलना में प्रगतिशील है, और साम्राज्यवाद एकाधिकार-पूर्व पूँजीवाद के मुकाबले प्रगतिशील है। इसलिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध हर संघर्ष का हमें समर्थन नहीं करना चाहिए। हम साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी वर्गों के संघर्ष का समर्थन नहीं करेंगे; हम साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी वर्गों के विद्रोह का समर्थन नहीं करेंगे। (लेनिन, 'ए कैरीकेचर ऑफ मार्क्सिज़्म एण्ड इम्पीरियलिस्ट इकोनॉमिज़्म')

ध्यान रहे, यहाँ लेनिन साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की बात नहीं कर रहे हैं, जो कि अक्सर ही राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में चलाया जाता है, बल्कि बड़ी पूँजी के विरुद्ध छोटी पूँजी के, इजारेदार पूँजी के विरुद्ध ग़ैर-इजारेदार पूँजी के विद्रोह की बात कर रहे हैं। सर्वहारा वर्ग निश्चित ही बड़ी पूँजी का विरोध करता है, लेकिन छोटी पूँजी को बचाने या उसकी माँगों के समर्थन की ज़मीन से नहीं, क्योंकि वह सिर्फ बड़ी इजारेदार पूँजी द्वारा लूट का विरोध नहीं करता है, बल्कि छोटे पूँजीपति वर्ग द्वारा लूट समेत समूची पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध करता है। धनी किसानों-कुलकों की लाभकारी मूल्य की माँग बड़ी पूँजी के बरक्स अपने लूट के विशेषाधिकार और लूट में हिस्सेदारी

को सुरक्षित रखने की माँग है। यह खेतिहर सर्वहारा, ग़रीब और निम्न मँझोले किसानों की लूट पर अपना वर्चस्व क़ायम रखने की धनी किसान की पूँजीवादी माँग है। सर्वहारा वर्ग रणकौशलात्मक तरीके से भी इसका समर्थन नहीं कर सकता है, जिसका यह अर्थ भी कोई अहमक ही निकाल सकता है कि सर्वहारा वर्ग बड़ी पूँजी का समर्थन करता है। इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि शासक वर्ग के दो धड़ों का यह आर्थिक अन्तरविरोध आज कॉरपोरेट-परस्त मोदी सरकार के लिए एक तात्कालिक चुनौती पेश कर रहा है। यह सर्वहारा वर्ग द्वारा छोटे ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की बड़े इजारेदार पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध लड़ाई के समर्थन का कारण नहीं बन सकता है, जैसा कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के हमारे लेखक महोदय तो समझ ही रहे हैं लेकिन कई संजीदा मार्क्सवादी-लेनिनवादी भी अभी ऐसा ही समझ रहे हैं।

हमने ऊपर पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय के लाभकारी मूल्य की माँग के समर्थन तक पहुँचने की विकास प्रक्रिया के कुछ अहम मील के पत्थरों को दिखाया है। इस पूरी प्रक्रिया में लेखक महोदय जो नये-नये "यथार्थ" उजागर करते जाते हैं, उसकी सच्चाई क्या है, यह हम एक-एक करके सिलसिलेवार तरीके से बतायेंगे। हालाँकि पूरे आलेख में इतने कुतर्क और तथ्यों के विकृतिकरण मौजूद हैं कि यहाँ सभी की आलोचना प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, फिर भी हम कुछ प्रातिनिधिक और मुख्य बातों पर उनकी आलोचना प्रस्तुत करेंगे।

पूँजीवादी फ़ार्मर व भूस्वामी वर्ग और 'मुक्त व्यापार' तथा राजकीय संरक्षण का प्रश्न

लेखक महोदय का पहला तर्क यह है कि किसान न सिर्फ़ कॉरपोरेट के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं बल्कि सभी किसानों का 'मुक्त व्यापार' से ही भरोसा उठा गया है, जैसा कि ऊपर हमने देखा। ऐसा तर्क वही व्यक्ति दे सकता है जिसको पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में धनी किसान-कुलक वर्ग के वर्गीय रुझान और माँगों के बारे में कोई जानकारी न हो!

पहली बात तो यह है कि पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के इतिहास में लगभग हर जगह धनी किसानों-कुलकों के वर्ग का नैसर्गिक तौर पर 'मुक्त व्यापार' की व्यवस्था पर कोई ख़ास भरोसा नहीं रहा है, या वे उसके स्वाभाविक समर्थक नहीं रहे हैं। यह बात वित्तीय-औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की अपेक्षा में छोटे पूँजीपतियों के पूरे वर्ग पर लागू होती है। छोटा पूँजीपति वर्ग हमेशा ही (देशी और विदेशी) बड़ी पूँजी के बरक्स राजकीय संरक्षण की माँग करता है, चाहे वे पूँजीवादी फ़ार्मर वर्ग हो या फिर छोटे कारखानेदारों, व्यापारियों आदि का वर्ग। उसे अपने अनुभव से पता होता है कि वह 'मुक्त व्यापार' की प्रतिस्पर्द्धा में बड़ी पूँजी के समक्ष नहीं टिक सकता है, जो कि ज़्यादा लागत-प्रभावी है और उसे उजाड़ देगी।

दूसरी बात, क्या भारत के धनी किसानों, फ़ार्मरों, भूस्वामियों ने कभी 'मुक्त व्यापार' की माँग या उसका समर्थन किया है? भारतीय खेती में पूँजीवादी विकास के तीव्र होने के पूरे दौर में, यानी कि तथाकथित 'हरित क्रान्ति' से लेकर अभी तक के दौर में धनी कुलक-फ़ार्मर वर्ग ने शुरू से ही, यानी अपने उभार से लेकर अपने परिपक्व होने तक के दौर में, अपने लिए राजकीय संरक्षण की माँग की है। चौधरी चरण सिंह, देवीलाल, टिकैत, और तमाम क्षेत्रीय पूँजीवादी पार्टियों की राजनीति अन्य मुद्दों के साथ धनी किसानों-कुलकों के वर्ग की इस माँग पर काफी निर्भर करती रही हैं। साथ ही, पंजाब जैसे प्रदेश में नरोदवादी कम्युनिस्टों के नेतृत्व वाली तमाम किसान यूनियनों की राजनीति भी इसी राजकीय संरक्षण की माँग पर निर्भर रही है और आज भी निर्भर है। इसलिए हमारे लेखक महोदय की यह पूर्वधारणा ही मूर्खतापूर्ण है कि धनी किसान-कुलक वर्ग का पहले 'मुक्त व्यापार' पर भरोसा था, जो कि पिछले कुछ दशकों के दौरान उठ गया है और इसलिए उसे समाजवादी कार्यक्रम पर जीता जा सकता है। और इसी पूर्वधारणा पर लेखक महोदय कुतर्कों और मूर्खतापूर्ण दावों की एक पूरी अट्टालिका खड़ी करते हैं। लेकिन बहुत-सी मूर्खताएँ मिलकर विवेकपूर्ण बात नहीं बन जातीं, वे तब भी एक विशाल मूर्खता का ही निर्माण करती हैं, जैसा कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) की पुस्तिका व लेख के लेखक महोदय ने काफी मेहनत करके किया है।

तीसरी बात यह है कि यह आन्दोलन आम तौर पर कॉरपोरेट-विरोधी आन्दोलन नहीं है! आन्दोलन के एक प्रमुख नेता विजू कृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि सरकार का दावा सही है कि इन तीन खेती क़ानूनों से लाभकारी मूल्य को कोई ख़तरा नहीं है, तो बस वह एक चौथा क़ानून बना दे जो कि सरकारी या निजी, किसी भी ख़रीदार के लिए उपज के लिए न्यूनतम लाभकारी मूल्य देने को बाध्यताकारी बना दे! यानी, सरकार यदि आज एक चौथा क़ानून बना दे जो कि कॉरपोरेट ख़रीदारों के लिए भी लाभकारी मूल्य के भुगतान को बाध्यताकारी बना दे तो किसानों को कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही, यह समझना भी ज़रूरी है कि कम्युनिस्ट आम तौर पर छोटी पूँजी द्वारा बड़ी पूँजी के विरुद्ध किये संघर्ष का, तमाम सेक्टरों में बड़ी पूँजी के प्रवेश का विरोध नहीं करते हैं, इसलिए यदि लाभकारी मूल्य की धनी किसानों की पूँजीवादी लूट के विशेषाधिकार की माँग किसी भी रूप में खेती के क्षेत्र में बड़ी पूँजी के प्रवेश को अवरुद्ध भी करती है, तो भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट उसका समर्थन नहीं करेंगे, जैसा कि ऊपर दिये गये उद्धरण में लेनिन ने स्पष्ट किया है। वे ऐसा केवल तब करते हैं जबकि इससे छोटा ग्रामीण पूँजीपति वर्ग नहीं, बल्कि सर्वहारा वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग, ग़रीब व निम्न-मँझोला किसान वर्ग और अन्य निम्न-मध्यम वर्ग प्रभावित हो रहे हों, जो कि पूँजीपति नहीं हैं, क्योंकि वे छोटे मालिक होने के बावजूद उजरती श्रम का शोषण करके मुनाफ़ा नहीं लूटते हैं। ऐसा करते हुए भी कम्युनिस्ट समाजवादी क्रान्ति के इन मित्र वर्गों को

बताते हैं कि हालाँकि कम्युनिस्ट तात्कालिक राहत सुनिश्चित करने वाली उनकी माँगों के लेकर संघर्ष करेंगे, लेकिन उन्हें यह सच्चाई समझनी चाहिए कि पूँजीवादी व्यवस्था के रहते, वे आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा वाले मानवीय जीवन की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं और उन्हें ऐसा जीवन एक समाजवादी व्यवस्था के मातहत ही मिलेगा। लेकिन पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय ने समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्गों के प्रति, यानी वे वर्ग जो उजरती श्रम के शोषक और इस प्रकार समूचे पूँजीपति वर्ग का कोई अंग नहीं हैं, कम्युनिस्ट पहुँच को छोटे और मँझोले पूँजीपति वर्ग के एक हिस्से के ऊपर लागू कर दिया है, यानी धनी किसानों-कुलकों के ऊपर!

चौथी बात, जिन्हें लगता है कि धनी किसान-कुलक आन्दोलन आम तौर पर कॉरपोरेट पूँजी या बड़ी इजारेदार पूँजी के ख़िलाफ़ है उन्हें इस बात पर ग़ौर करना चाहिए कि लाभकारी मूल्य जिन 23 फसलों पर मिलता है उसके अलावा अन्य सभी फसलों के कारोबार में कॉरपोरेट पूँजी पहले ही प्रवेश कर चुकी है या उनमें किसी न किसी रूप में निजी पूँजी का ही वर्चस्व है। धनी किसान-कुलक उस क्षेत्र में कहीं भी कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश या मौजूदगी का विरोध नहीं कर रहे! यदि आपको यह लगता है कि समूचा धनी किसान वर्ग कॉरपोरेट के प्रवेश के ख़िलाफ़ हैं तो इस पर भी ग़ौर करें कि अभी चल रहे कुलक आन्दोलन के दौरान लाभकारी मूल्य वाली फसलों पर तमाम किसानों ने कॉरपोरेट कम्पनियों को अपनी फसल बेची है! इसको आप नीचे दिये लिंक पर पढ़ सकते हैं -

www.thenewsminute.com/article/karnataka-farmers-sell-rice-reliance-retail-unions-warn-predatory-pricing-141218

www.tribuneindia.com/news/punjab/pvt-players-in-punjab-buying-cotton-way-above-msp-196215

यदि कॉरपोरेट कम्पनियाँ लाभकारी मूल्य से अधिक दाम देंगी, तो धनी किसानों-कुलकों का ही अच्छा-ख़ासा हिस्सा उन्हें अपनी उपज बेचने के लिए टूट पड़ेगा। यह सच है कि इस बात की प्रबल सम्भावना है कि शुरू में ऊँचे दाम देने के बाद कॉरपोरेट कम्पनियाँ बाज़ार पर अपने अल्पाधिकार के क़ायम होने के बाद अपेक्षाकृत कम दाम देंगी; लेकिन फिर धनी किसानों-कुलकों के संगठन यह घोषणा क्यों नहीं करते कि वे कॉरपोरेट कम्पनियों द्वारा ख़रीद का बहिष्कार करेंगे? यदि वे अभी रिलायंस के जियो व अडानी के उत्पादों के बहिष्कार का आह्वान कर सकते हैं, तो वे व्यापक धनी किसान-कुलक आबादी का यह आह्वान क्यों नहीं कर सकते कि यदि कॉरपोरेट कम्पनियाँ कृषि उपज की ख़रीद के क्षेत्र में आती हैं, तो वे उसका बहिष्कार कर दें? क्योंकि स्वयं धनी किसानों-कुलकों के संगठनों को धनी किसानों-कुलकों के वर्ग का चरित्र पता है! वे जानते हैं कि तात्कालिक तौर पर जहाँ से उन्हें अधिक दाम मिलेगा, वे वहाँ अपनी उपज बेचने को भागेंगे! और इस वर्ग का नेतृत्वकारी हिरावल होने के नाते वे धनी किसानों-कुलकों के वर्ग के दूरगामी हितों के बारे में सोच रहे हैं और वे राजकीय संरक्षण की मण्डी वर्गीय आवश्यकता को समझते हैं। यदि इस राजकीय संरक्षण के बूते कॉरपोरेट कम्पनियाँ उनकी उपज लाभकारी मूल्य पर ख़रीदने को बाध्य कर दी जाएं, तो न तो उन्हें एपीएमसी मण्डी के ख़त्म होने से कोई दिक्कत है और न ही उन्हें सरकारी ख़रीद के समाप्त होने पर कोई एतराज़ होगा।

ग़ौरतलब है कि जब पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय खुद ही मानते हैं कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन के केन्द्र में लाभकारी मूल्य की माँग है तो उन्हें एक मार्क्सवादी के तौर पर यह पता होना चाहिए यह बड़ी इजारेदार पूँजी और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं! चूँकि ग्रामीण पूँजीपति वर्ग को मुनाफ़े में अपनी हिस्सेदारी सुनिश्चित करनी है, इसलिए लाभकारी मूल्य के ज़रिये वह राज्य से यह माँग कर रहे हैं। परन्तु वाम के कई संगठनों द्वारा इस आन्दोलन को बड़ी एकाधिकारी पूँजी के ख़िलाफ़ मेहनतकश जनता की लड़ाई समझ लिया गया है या ऐसा समझने का ढोंग किया जा रहा है, क्योंकि फ़ासीवाद के समक्ष पराजयबोध और निराशा-हताशा से ग्रस्त इन संगठनों को मोदी सरकार का विरोध करने वाली किसी भी ताक़त या चुनौती में अपना रक्षक नज़र आ रहा है। वस्तुत:, हमारे लेखक महोदय भी यही बात कर रहे हैं। इस बड़ी एकाधिकारी पूँजी के ख़िलाफ़ धनी किसानों की लड़ाई को वह अपना समर्थन देते हैं और ऐसा करते हुए ग्रामीण पूँजी द्वारा खेतिहर मज़दूरों और सीमान्त, छोटे व निम्न मँझोले किसानों की लूट के समर्थन में जा खड़े होते हैं! वे बड़ी इजारेदार पूँजी की लूट के तो विरोध में है लेकिन ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की लूट और इसलिए आम तौर पर पूँजीवाद के विरोध में नहीं हैं। जिस तर्क से वे धनी किसानों व कुलकों का समर्थन कर रहे हैं, उस तर्क से उन्हें छोटे कारख़ानेदारों का भी समर्थन करना चाहिए, क्योंकि उनके भी बड़ी इजारेदार पूँजी के साथ तीख़े अन्तरविरोध हैं!

जैसा कि मार्क्स, एंगेल्स, काऊत्सकी (अपने मार्क्सवादी दौर में) और लेनिन ने कम्युनिस्टों को बार-बार याद दिलाया था, मार्क्सवादी-लेनिनवादी बड़ी पूँजी का विरोध छोटी पूँजी की ज़मीन से नहीं करते हैं। सर्वहारा वर्ग और उसकी अगुवाई में समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्ग ग़रीब किसान व निम्न मध्यवर्ग अपनी स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति से आम तौर पर पूँजी द्वारा शोषण का विरोध करेगा, ना कि सिर्फ़ कॉरपोरेट पूँजी का! ऐसा करने का मतलब होगा मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति को त्याग देना और उसे छोटे पूँजीपति वर्ग का पिछलग्गू बनाना। यही काम यहाँ पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय करते दिखते हैं, जहाँ वह कुलकों की ज़मीन से बड़ी एकाधिकार पूँजी के विरोध का जश्न मनाते हैं। सच यह

है कि लाभकारी मूल्य की लड़ाई कुल विनियोजित बेशी मूल्य में अपनी हिस्सेदारी बचाने और बढ़ाने के लिए ग्रामीण पूँजीपति और बड़ी एकाधिकार पूँजीपति वर्ग के बीच की लड़ाई है।

पूँजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़ों के बीच में हमेशा ही मुनाफ़े के बँटवारे को लेकर अन्तरविरोध मौजूद रहते हैं और अक्सर ये अन्तरविरोध काफ़ी तीख़े भी हो जाते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं होता कि कोई एक धड़ा अब पूँजीपति वर्ग का अंग नहीं रह गया है या वह धड़ा पूँजीवाद-विरोधी बन जायेगा। इसी प्रकार के नतीजे एक भूतपूर्व-एसयूसीआई सदस्य सोशल मीडिया वामपंथी बुद्धिजीवी भी निकाल रहे हैं! ऐसा प्रतीत होता है कि इन बुद्धिजीवी महोदय के सिद्धान्त-चर्वण से गिरे चूरों को बटोरकर हमारे पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय ने अपनी मूर्खता के अट्टालिका-निर्माण का मसाला तैयार किया है।

लेखक महोदय कहते हैं कि खुले बाज़ार में कृषि उपज के दामों में आये भयानक उतार-चढ़ाव के कारण किसान ऊँचे दाम के आकर्षण से विमुख हो गये हैं! यह एकदम बकवास दावा है। किसान लाभकारी मूल्य के ज़रिये भी ऊँचा दाम ही चाहते हैं, अन्यथा सभी धनी किसानों के संगठन स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने की माँग को इतना केन्द्रीय स्थान नहीं देते, जो कि व्यापक लागत (comprehensive cost) के ऊपर 50 प्रतिशत का मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाले लाभकारी मूल्य देने की वकालत करती है। यदि लाभकारी मूल्य इतने ऊँचे स्तर पर तय होगा तो खाद्यान्न की बाज़ार क़ीमत के लिए एक बेहद ऊँचा 'फ़्लोर लेवल' तय होगा, जो कि बाज़ार क़ीमत को उससे नीचे नहीं जाने देगा। ऐसे में, किसान क्या ऊँचे दामों की माँग से विमुख हो गये हैं? नहीं! वे वस्तुत: कृषि उपज की दामों के लिए एक ऊँचा 'फ़्लोर लेवल' चाहते हैं, जिससे कि उन्हें जो गारण्टी वाला दाम मिले वह एक ऊँचे फ़िक्स स्तर से नीचे जा ही न सके। यह वास्तव में एक तयशुदा ऊँचे दामों का आकर्षण ही है जो कि लाभकारी मूल्य की माँग के पीछे खड़ा है। ऐसा दावा अपने कल्पनालोक में रहने वाला कोई शेखचिल्ली ही कर सकता है कि धनी किसान अब ऊँचा दाम नहीं चाहते या उसके प्रति उनमें आकर्षण ख़त्म हो गया है! तो फिर वे व्यापक लागत के ऊपर 50 प्रतिशत मुनाफ़े वाला लाभकारी मूल्य क्यों माँग रहे हैं? क्योंकि धनी किसान जानते हैं कि कृषि उपज की यह गारंटीशुदा क़ीमत उन्हें एक सुनिश्चित मुनाफ़ा मुहैया करायेगी और साथ ही उसके बाद भी बाज़ार क़ीमतों को अन्य कारकों जैसे कि जमाख़ोरी आदि के ज़रिये और ऊपर उठाया जा सकता है। लेखक महोदय भी शायद इस विचित्र दावे में निहित मूर्खता के प्रति सचेत हैं और इसलिए वह कहते हैं कि किसान खुले बाज़ार/मुक्त व्यापार द्वारा ऊँचे दाम के प्रति विकर्षण महसूस कर रहे हैं। लेकिन फिर सवाल यह उठता है कि क्या लेखक महोदय राजकीय संरक्षण के ज़रिये धनी किसानों के ऊँचे दाम की माँग का समर्थन करते हैं, क्योंकि लाभकारी मूल्य वास्तव में राजकीय संरक्षण के ज़रिये मिलने वाला एक ऐसा ऊँचा दाम ही है, जो कि धनी किसानों-कुलकों को आम मेहनतकश आबादी की क़ीमत पर एक बेशी मुनाफ़ा सुनिश्चित करता है? ज़ाहिर है, यहाँ भी लेखक महोदय इरादतन एक अस्पष्टता क़ायम रखते हैं, ताकि धनी किसानों-कुलकों की लाभकारी मूल्य की माँग का समर्थन कर उनके आन्दोलन की पूँछ पकड़कर घिसट सकें!

यह बात भी ग़ौरतलब है कि कई वाणिज्यिक फसलों के मामले में किसान कतई कॉरपोरेट ख़रीद के खिलाफ़ नहीं हैं क्योंकि इसमें निजी ख़रीद और मुक्त बाज़ार ही उन्हें आम तौर पर काफ़ी ऊँची क़ीमत देता है, बल्कि इन फसलों के मामले में तो वे किसी भी प्रकार के राजकीय विनियमन के खिलाफ़ हैं! यह भूलना नहीं चाहिए कि धनी किसान एक पूँजीवादी किसान है जो कि उजरती श्रम का शोषण करके मुनाफ़े की ख़ातिर ही खेती में निवेश करता है। चाहे सरकारी दाम के ज़रिये या मुक्त बाज़ार द्वारा निर्धारित ऊँचे दामों के ज़रिये उसे पर्याप्त मुनाफ़ा सुनिश्चित करने वाला दाम ही चाहिए होता है। यदि सरकारी गारंटीशुदा दाम से उसे यह मुनाफ़ा मिलता है, तो वह उसके लिए लड़ता है और यदि किसी भी उपज की बिकवाली में सरकारी विनियमन बाधा पैदा करता है, तो वह उसका विरोध भी करता है।

यहीं पर एक और बात का ज़िक्र करना भी उपयोगी होगा, जो हमारे लेखक महोदय के सिर के ऊपर से बाउंसर के समान निकल जाती है।

पूँजीपति वर्ग का आम तौर पर एक चरित्र होता है: अपने से बड़े और ताकतवर प्रतिस्पर्द्धी के विरुद्ध वह हमेशा अपनी राज्यसत्ता से सरंक्षण की माँग और अपेक्षा करता है। यहाँ तक कि भारत का बड़ा पूँजीपति वर्ग भी सस्ते चीनी आयात के समक्ष संरक्षण की माँग करता है; भारत के बड़े पूँजीपति वर्ग ने आज़ादी के बाद आयात-प्रतिस्थापन का जो विकास मॉडल अपनाया था वह भी विदेशी, अपेक्षाकृत बड़ी पूँजी से राजकीय संरक्षण ही था; जब किसी भी देश का बड़ा पूँजीपति वर्ग विकास के अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर पर पहुँच जाता है, तो वह भी विश्व बाज़ार में प्रतिस्पर्द्धा के काबिल हो जाता है और संरक्षण के लिए उसकी माँग कम होती जाती है, हालाँकि यह पूरी तरह से समाप्त कभी नहीं होती है; यहाँ तक कि उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देशों के पूँजीपति वर्ग भी वैश्विक पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा के बदलते समीकरणों के अनुसार अपनी-अपनी सरकारों से संरक्षण की माँग करते हैं। लेकिन छोटे और मंझोले पूँजीपति वर्ग की तो आम तौर पर हमेशा ही यह माँग होती है कि उसे राजकीय संरक्षण मिले क्योंकि उसे पता होता है कि वह खुले बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा में बड़ी पूँजी के समक्ष नहीं टिक सकता है। लेकिन अपने से निचले वर्गों के लिए वह किसी भी प्रकार के संरक्षण के ख़िलाफ़ होता है! मिसाल के तौर पर, मज़दूरों को श्रम क़ानूनों द्वारा मिलने वाले क़ानूनी अधिकार भी एक प्रकार का राजकीय

संरक्षण है, जैसे कि न्यूनतम मज़दूरी का क़ानूनी अधिकार (अभी यहाँ इस मसले पर बात करने की कोई प्रासंगिकता नहीं है कि ये श्रम क़ानून कितने लागू होते हैं, क्योंकि इन क़ानूनों का होना भी पूँजीपति वर्ग को गंवारा नहीं है)। खेतिहर मज़दूरों को तो श्रम क़ानूनों से मिलने वाले तमाम क़ानूनी अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। खेतिहर मज़दूरों को इस प्रकार के अधिकार मिलने का धनी और उच्च मध्यम किसान सीधे-सीधे मुख़ालफ़त करते हैं। मनरेगा योजना का भी धनी किसान शुरू से ही विरोध करते रहे हैं क्योंकि इससे ग्रामीण मज़दूरी दर बढ़ सकती है और अक्सर बढ़ती भी है। मनरेगा योजना भी एक राजकीय संरक्षण ही है। जब मज़दूर वर्ग को और विशेष तौर पर खेतिहर मज़दूर वर्ग को मिलने वाले इन राजकीय संरक्षणों की बात आती है, तो धनी किसानों-कुलकों समेत सारे छोटे पूँजीपति वर्ग अचानक 'मुक्त व्यापार-वादी' (free-trader) बन जाते हैं; लेकिन स्वयं अपने लिए वे बड़ी पूँजी के समक्ष राजकीय संरक्षण चाहते हैं और उस मौके पर वे अचानक कल्याणवादी (welfarist) बन जाते हैं! यह छोटे पूँजीपति वर्ग का असली वर्ग चरित्र होता है।

ऐसे में कोई कम्युनिस्ट न तो आम तौर पर राजकीय संरक्षण की तात्कालिक माँग का निरपेक्ष समर्थन करता है, और न ही निरपेक्ष विरोध। वह उस राजकीय संरक्षण का समर्थन करता है, जिसका कुछ भी लाभ मज़दूर वर्ग और आम ग़रीब मेहनतकश आबादी को मिलता है और उस राजकीय संरक्षण का विरोध करता है जो पूँजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से को मिलता है। लाभकारी मूल्य की व्यवस्था धनी किसानों-कुलकों को मिलने वाला राजकीय संरक्षण है और यह संरक्षण ग़रीब मेहनतकश जनता की क़ीमत पर दिया जाता है। वास्तव में, हमारे लेखक महोदय धनी किसानों-कुलकों के लिए इसी राजकीय संरक्षण की माँग कर रहे हैं और ऐसा करने के लिए जहाँ उन्हें मन करता है वहाँ वह किसानों को एक अविभाजित (undifferentiated) समुदाय के रूप में पेश करते हैं। आइए देखते हैं कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय इस प्रश्न पर किस प्रकार द्रविड़ प्राणायाम करते हुए शर्मनाक स्थिति में पहुँच जाते हैं।

लाभकारी मूल्य किन वर्गों की सेवा करता है?

हमारे लेखक महोदय जब लाभकारी मूल्य की लड़ाई को किसानों के अस्तित्व-रक्षा की लड़ाई से जोड़ देते हैं, तब उनसे पूछा जाना चाहिए कि कौन-से किसानों का अस्तित्व? आम मेहनतकश ग़रीब किसान (सीमान्त, छोटे व निम्न-मँझोले किसान) तो मुनाफ़े, सूद और लगान के ज़रिये धनी किसानों-कुलकों की लूट के कारण पहले ही अस्तित्व के संकट का सामना कर रहे हैं और लाभकारी मूल्य इन्हीं धनी किसानों-कुलकों की माँग है। किसानों के अलग-अलग संस्तरों की अलग-अलग वर्गीय माँगों के इसी बुनियादी लेनिनवादी सवाल को हमारे लेखक महोदय या तो उठाते ही नहीं हैं, या उसे ढाँपने-तोपने की कोशिश करते रहते हैं।

पहली बात, यदि आप ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों की बात कर रहे हैं, तो वे तो पहले से ही तबाह हो रहे हैं और वह भी किसान आबादी के ही दूसरे हिस्से यानी कि धनी किसानों और कुलकों द्वारा! 2009 में ही करम सिंह, सुखपाल सिंह और एच.एस.धींगरा ने अपने अध्ययन में स्पष्ट बताया कि पूरे देश की तो बात ही और है, खुद पंजाब में ही खेती से उजड़ने वाले किसानों का 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा हिस्सा उन किसानों का है, जिन्हें हम सीमान्त व छोटा किसान कहते हैं और उनका खेती छोड़ने का प्रमुख कारण था संस्थाबद्ध सस्ते ऋण की अनुपस्थिति और गाँव के धनी किसानों-कुलकों द्वारा भयंकर रूप से ऊँची ब्याज़ दरों पर दिया जाने वाले ऋण ('Agrarian Crisis and Depeasantization in Punjab: Status of Small/Marginal Farmers Who Left Agriculture', Indian Journal of Agricultural Economics, Vol.64, No.4, Oct-Dec 2009)। पंजाब तक में 2019 में आत्महत्या करने वाले 3330 किसानों में से 94 प्रतिशत 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन वाले थे। पूरे भारत के बारे में यह सच्चाई लागू होती है। इसके अलावा, छोटे पैमाने की खेती की बढ़ती लागत और घटती आमदनी उनके उजड़ने का दूसरा सबसे बड़ा कारण थी। कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश के बहुत पहले से ही और विशेष तौर पर 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध से विकिसानीकरण और सर्वहाराकरण का मुख्य कारण धनी किसानों-कुलकों की मुनाफ़े, सूद, लगान व कमीशन द्वारा लूट रही है। कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश से ग़रीब व छोटे किसानों के उजड़ने की प्रक्रिया में सिर्फ इतना ही फ़र्क आने वाला है कि अब उन्हें उजाड़ने वाली शक्तियों में धनी किसानों-कुलकों के साथ-साथ कॉरपोरेट पूँजी को भी हिस्सेदारी मिल जायेगी, जो कि कालान्तर में बढ़ती भी जायेगी। यह भी समझना ज़रूरी है कि लाभकारी मूल्य को राजकीय संरक्षण के समाप्त होने और निजी पूँजी के उपज विपणन के क्षेत्र में प्रवेश के कारण ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों के उजड़ने की रफ़्तार बढ़ने का कोई आनुभविक प्रमाण नहीं है। यदि ऐसा होता तो 2005-06 के बाद बिहार में विकिसानीकरण और ग्रामीण सर्वहाराकरण की रफ़्तार बिहार में हरियाणा जैसे राज्यों से ज़्यादा होनी चाहिए थी, जो कि नहीं है। इतना दावे के साथ कहा जा सकता है कि ग़रीब व निम्न-मँझोले किसान धनी किसानों-कुलकों द्वारा पूँजीवादी लूट के मातहत भी उजड़ रहे थे और खेती में कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश के बाद भी वे उजड़ते रहेंगे और इसीलिए कॉरपोरेट पूँजी का विरोध धनी किसानों-कुलकों की वर्गीय ज़मीन पर खड़े होकर करने में सर्वहारा वर्ग और ग़रीब मेहनतकश किसानों का कोई हित नहीं है।

दूसरी बात यह है कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय यह बताने की ज़हमत ही नहीं उठाते हैं कि लाभकारी मूल्य की माँग ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों के

अस्तित्व की रक्षा कैसे करेगी? यानी इन जनाब ने उस बात को ही अपनी पूर्वमान्यता (assumption) मानकर प्रस्थान किया है, जिसे कि साबित किया जाना था! यह कुतर्कों की इमारत खड़ी करने का सबसे भोंड़ा और मूर्खतापूर्ण तरीका है।

सभी जानते हैं कि ग़रीब और निम्न मँझोले किसान को 90 फीसदी से भी ज़्यादा मामलों में लाभकारी मूल्य का लाभ नहीं मिलता है! अव्वलन तो ग़रीब और निम्न मँझोले किसानों की लाभकारी मूल्य और सरकारी मण्डियों तक पहुँच ही बेहद सीमित है। दूसरी बात यह कि जिन राज्यों में कुछ हद तक छोटे निम्न मँझोले किसान भी बेहतर आधारभूत विपणन संरचना के कारण सरकारी मण्डियों में लाभकारी मूल्य पर अनाज बेच पाते हैं वहाँ भी उन्हें लाभकारी मूल्य से नुकसान होता है, क्योंकि वे खाद्यान्न के मुख्य रूप से ख़रीदार हैं, विक्रेता नहीं। यानी, वे जितना अनाज बेचते हैं, उससे ज़्यादा ख़रीदते हैं और इसलिए लाभकारी मूल्य में किसी भी बढ़ोत्तरी का उन्हें नुकसान होता है, फ़ायदा नहीं। और स्वयं हमारे लेखक महोदय मानते हैं कि लाभकारी मूल्य से कृषि उपज की क़ीमतें बढ़ती हैं। ऐसे में, इस प्रकार का मूर्खतापूर्ण दावा करने के लिए अव्वल दर्जे का अहमक या मौकापरस्त होने की आवश्यकता है कि लाभकारी मूल्य को बचाना सारे किसानों के हित और अस्तित्व का प्रश्न है। कौन-सा विकल्प हमारे पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक पर लागू होता है, यह फैसला हम पाठकों पर छोड़ देते हैं।

जहाँ तक कॉरपोरेट पूँजी के कृषि उपज विपणन में प्रवेश की बात है, तो ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों की तबाही पर कोई बहुत ज़्यादा असर नहीं पड़ेगा! वे पहले भी पूँजी की स्वाभाविक गति से तबाह हो रहे थे और अब भी होंगे, जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है! फर्क बस इतना होगा कि पहले वे धनी किसानों व कुलकों द्वारा खेतिहर उत्पादन व खेती के उत्पाद के व्यापार की व्यवस्था में लुट और बरबाद हो रहे थे और अब इस प्रक्रिया में एक बड़ी भागीदारी बड़ी कॉरपोरेट पूँजी की होगी! यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि कॉरपोरेट पूँजी के आने से छोटे किसान ज़्यादा जल्दी तबाह होंगे या बलात् अपनी ज़मीन से निकाले जायेंगे जैसा कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय कह रहे हैं! अभी तक इसके कोई प्रमाण नहीं मिले हैं कि राजकीय संरक्षण समाप्त होने और निजी पूँजी के प्रवेश से सीमान्त, छोटे व निम्न-मँझोले किसानों की तबाही की रफ़्तार बढ़ गयी है। मिसाल के तौर पर, जैसा कि हमने ऊपर बताया है, आप बिहार में एपीएमसी एक्ट और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त होने के बाद के दौर में सर्वहाराकरण व विकिसानीकरण की दर और इसी दौर में पंजाब और हरियाणा में सर्वहाराकरण और विकिसानीकरण की दर में तुलना करें, तो आप पाते हैं कि बिहार में यह दर अपेक्षाकृत कम रही है। एक पल को यह मान लेते हैं कि धनी किसानों-कुलकों, यानी खेतिहर पूँजीपति वर्ग के मुकाबले बड़ी इजारेदार पूँजी ग़रीब मेहनतकश किसानों को ज़्यादा तेज़ गति से उजाड़ेगी, तो भी इसका मतलब यह नहीं कि छोटे व सीमान्त किसान यह नारा दें कि हमें बड़ी पूँजी से नहीं बल्कि छोटी पूँजी से तबाह होना है! ग़रीब व मँझोले किसान अपनी बरबादी के लिए ज़िम्मेदार बड़े एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग का विरोध छोटी पूँजी की ज़मीन से नहीं करेंगे बल्कि अपनी स्वतंत्र वर्गीय राजनीतिक अवस्थिति से करेंगे! लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बनाये रखने का मसला ग्रामीण पूँजीपति यानी धनी किसान-कुलक वर्ग और बड़े इजारेदार कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के बीच का विवाद है! इसमें खेतिहर मज़दूर, निम्न-मँझोले किसान व ग़रीब किसान और मज़दूरों को धनी किसान या कॉरपोरेट का साथ देने की न सिर्फ कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह नुकसानदेह है!

सामान्य पूँजीवादी खेती और कॉरपोरेट पूँजीवादी खेती के बारे में पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय के बहके-बहके विचार

हमारे लेखक महोदय ने धनी किसानों-कुलकों की गोद में बैठने की बेताबी में मार्क्सवाद-लेनिनवाद में ही एक नया इज़ाफ़ा कर डाला है! जनाब का दावा है कि एक सामान्य पूँजीवादी खेती होती है, जिसमें खेती से किसानों का बलात् निष्कासन नहीं होता है, जबकि दूसरी कॉरपोरेट पूँजीवादी खेती होती है, जिसमें ग़रीब किसानों को खेती से बलात् खेती से खदेड़ा जायेगा! आइये देखते हैं हमारे लेखक महोदय क्या कहते हैं:

"सामान्य पूँजीवादी कृषि से कॉरपोरेट कृषि में छलाँग स्वाभाविक और स्वयंस्फूर्त नहीं हो सकती थी। पूँजीवादी कृषि के दूसरे दौर के आगाज़ का वास्तविक अर्थ है – खेती से ग़रीब किसानों के स्वयंस्फूर्त निष्कासन से बलात् निष्कासन और ग़रीब किसानों की तबाही से लगभग संपूर्ण किसान वर्ग की तबाही के दौर में छलांग – जिसे बलात् किया जाना है जैसा कि नये फ़ार्म क़ानून में स्पष्टत: निर्दिष्ट है।" (पीआरसी सीपीआई (एमएल) के फेसबुक पोस्ट से)

अपने इस महान सैद्धान्तिक इज़ाफ़े के पीछे लेखक महोदय कोई आधार या तर्क नहीं देते! कॉरपोरेट पूँजी के कृषि व उसकी उपज के व्यापार में प्रवेश से छोटी पूँजी पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक गति से ही निष्काषसित होगी ना कि बलात् निष्काषित होगी! पहले तो यह भी समझ लेते हैं कि इस शब्द कॉरपोरेट पूँजी का क्या अर्थ है। इसका अर्थ केवल बड़ी पूँजी से है, और कुछ भी नहीं। खेती में जब धनी किसानों की पूँजी का उभार होता है, तो वह भी अपने से छोटी पूँजी को प्रतिस्पर्द्धा में उजाड़कर ही होता है; और धनी किसानों की पूँजी के बरक्स बड़ी पूँजी के खेती के क्षेत्र में प्रवेश से भी धनी किसानों-कुलकों की पूँजी उसी पूँजीवादी बाज़ार प्रतियोगिता की प्रक्रिया से ही तबाह होगी।

लेखक महोदय का दावा है कि ठेका खेती से बड़े पैमाने की शुरुआत होगी और यह व्यापक किसान आबादी के कृषि से बलात् निष्कासन का कारण बनेगी। यह भी बकवास

है। धनी किसानों और कुलकों द्वारा देश में पहले से ही ठेका खेती जारी है और उसके ज़रिये बड़े पैमाने की खेती पहले ही हो रही है; कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश से प्रक्रिया और बड़े पैमाने पर जायेगी, न कि इसकी शुरुआत कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश से होगी। लेकिन इससे धनी किसानों-कुलकों का जो हिस्सा खेती से निष्कासित होगा, वह भी बलात् नहीं होगा, बल्कि पूँजीवाद की स्वाभाविक आर्थिक गति से ही होगा। यह कोई बलात् निष्कासन नहीं होगा। निश्चित तौर पर, ज़मीन की मिल्कियत के क़ानूनों में कल संशोधन करके इस आर्थिक निष्कासन की प्रक्रिया को भी ज़्यादा सरल और सहज बनाने का प्रयास बड़ा पूँजीपति वर्ग करेगा, जो कि ज़मीन की ख़रीद-फ़रोख्त को और आसान बनायेगा। फ़ासीवादी सरकार आर्थिक और राजनीतिक संकट के किसी सन्धि-बिन्दु पर फिर से 2015 के समान बिना किसानों की सहमति के भूमि अधिग्रहण का कोई क़ानून ला सकती है, जिस सूरत में किसानों के जनवादी अधिकार का मुद्दा प्रमुख बन जायेगा। लेकिन इसकी सम्भावना कम है कि मोदी सरकार ऐसा कोई क़ानून दोबारा लायेगी क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह छोटे पूँजीपति वर्ग के मातहत पूँजीवादी खेती और बड़े पूँजीपति वर्ग की दख़ल के मातहत पूँजीवादी खेती के बीच कोई गुणात्मक अन्तर स्थापित करने का कोई आधार नहीं है। साथ ही, यह भी याद रखना चाहिए कि कम्युनिस्ट रैडिकल बुर्जुआ अर्थों में भी ज़मीन के प्रभावी (शुद्धत: क़ानूनी नहीं) राष्ट्रीकरण का समर्थन करते हैं क्योंकि यह पूँजीवादी दायरों में भावी समाजावादी रूपान्तरण का रास्ता साफ़ करता है और ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील है। ज़मीन के निजी सम्पत्ति होने का कोई तार्किक आधार बुर्जुआ अर्थों में भी नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि ज़मीन एक प्राकृतिक संसाधन है न कि उत्पादित वस्तु । बहरहाल, कॉरपोरेट पूँजी के खेती के क्षेत्र में पहुँचने से खेती से किसानों के निष्कासन के बलात् निष्कासन में तब्दील हो जाने का दावा कतई मूर्खतापूर्ण है और खेतिहर पूँजीपति वर्ग द्वारा इजारेदार पूँजी के विरोध में हो रहे आन्दोलन का समर्थन करने की टुटपुंजिया अवस्थिति के वैधीकरण के लिए दिया जा रहा एक अवसरवादी कुतर्क है।

बलात् का मार्क्सवादी अर्थों में एक ही मतलब होता है: आर्थिकेतर उत्पीड़न (extra-economic coercion) के दम पर ज़मीन से बेदखली। तीनों खेती क़ानूनों के ज़रिये कॉरपोरेट पूँजी के आने से भी छोटी पूँजी बलात् कैसे बेदख़ल होगी, यह लेखक महोदय समझाने की बजाय, एक बार फिर से इसे एक पूर्वमान्यता के रूप में पेश करते हैं! यह इन जनाब की आदत है: जो बात इन्हें साबित करनी होती है और यह साबित नहीं कर पाते, उसे यह आकाशवाणी समान एक तथ्य मान लेते हैं, जिसे सभी जानते हों! सच्चाई यह है कि कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश के बाद भी ग़रीब और निम्न-मँझोले किसान और उच्च मध्यम और साथ ही धनी किसानों की भी एक आबादी बाज़ार की स्वाभाविक आर्थिक गति से तबाह होगी ना कि बलात्!

दूसरी बात, यह कि तमाम अध्ययन दिखलाते हैं कि जिस हद तक धनी किसानों का एक छोटा-सा हिस्सा खेती छोड़कर किसी अन्य उद्यम या पेशे में गया है, वह पूरी तरह बरबाद होकर नहीं गया, बल्कि उससे पहले ही उसने अपने निवेश का वैविध्यीकरण कर दिया है। दूसरे शब्दों में, ग़रीब और निम्न मँझोले किसानों का उजड़ना और धनी किसानों का खेती छोड़कर दूसरे पेशों में जाना दो अलग प्रकार की आर्थिक परिघटनाएँ हैं। साथ ही, उन्नत से उन्नत पूँजीवादी देशों में उत्तरोत्तर पूँजीवादी विकास के बावजूद समूची धनी किसान आबादी समाप्त नहीं हो गयी। अमेरिका में भी धनी फ़ार्मर वर्ग पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। अमेरिका में कुल 20 लाख फ़ार्म हैं, जिनका औसत आकार 441 एकड़ प्रति फार्म है और इनमें से फ़ार्मर परिवारों के मालिकाने वाले फ़ार्म 85.7 प्रतिशत हैं और उनके फार्मों के अन्तर्गत कुल कृषि भूमि का 60.1 प्रतिशत आता है। निचिश्त तौर पर, पूँजीवादी विकास के साथ पूँजी का संकेन्द्रण और बढ़ेगा और कई धनी किसान-कुलक अपनी ज़मीनें कॉरपोरेटों को बेचकर अन्य आर्थिक क्षेत्रों में निवेश करेंगे। ऐसा भारत में भी हुआ है और यह प्रक्रिया अमेरिका में घटित भी हुई है। लेकिन इसकी मेहनतकश ग़रीब किसानों के उजड़ने से तुलना नहीं की जा सकती है, जो कि धनी किसानों-कुलकों की लूट से भी उजड़ रहे हैं और बड़ी इजारेदार पूँजी की लूट से भी उजड़ेंगे और जो पहले ही अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुके हैं, क्योंकि उनकी आय का बड़ा हिस्सा उजरती श्रम से आता है और जो आय खेती से होती है, वह भी पूँजीपति के समान उजरती श्रम का शोषण करके नहीं होती है। निश्चित तौर पर, कुछ धनी किसान तबाह भी होंगे। लेकिन यह पूँजीवाद की एक आर्थिक प्रक्रिया है, न कि बलात् निष्कासन, जो कि परिभाषा से ही बाकायदा पूँजी संचय की नहीं, बल्कि आदिम संचय (primitive accumulation) की प्रक्रिया होती। इस प्रकार की जबरन बेदख़ली जनता की साझा सम्पदा (Commons) के निजीकरण के रूप में जारी भी है और हर जगह ही कम्युनिस्ट उसका विरोध भी करते हैं। लेकिन धनी किसानों के एक हिस्से का कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश से उजड़ना कोई आदिम संचय नहीं है।

लुब्बेलुबाब यह कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय का यह सिद्धान्त निहायत मूर्खतापूर्ण है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद से इसका कोई लेना-देना नहीं है। इसके पीछे से भी हमारे भूतपूर्व एसयूसीआई सदस्य सोशल मीडिया बुद्धिजीवी की समझदारी की बू आती है, जो कि इस समय पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय के लिए 'लीडिंग लाइट' बने हुए हैं। इन सोशल मीडिया बुद्धिजीवी का कहना है कि खेती क़ानून इंग्लैण्ड के आदिम संचय व बाड़ेबन्दी आन्दोलन जैसे ही हैं, जिनमें किसानों को जबरन उजाड़ा गया था! इसी प्रकार की मूर्खतापूर्ण तुलना पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता

महोदय कर रहे हैं क्योंकि वह इन सोशल मीडिया बुद्धिजीवी के सिद्धान्त-मन्थन से ही यह टुटपुंजिया अमृत प्रसाद में लेकर आये हैं। ऐसे लोगों को पूँजी और श्रम के द्वन्द्व को संघटित करने वाले आदिम संचय और पूँजीवादी संचय के बीच में फ़र्क ही नहीं पता है। पहला श्रम और पूँजी के दो ध्रुवों का सृजन करता है और श्रम-पूँजी अन्तरविरोध व पूँजी-सम्बन्ध (capital-relation) को संघटित करता है; इसमें बलात् उजाड़े जाने का तत्व प्रधान होता है। दूसरा, यानी पूँजीवादी संचय, सम्भव ही तब होता है जबकि श्रम और पूँजी का यह द्वन्द्व पहले ही संघटित हो चुका हो और यह बलात् उजाड़ने की प्रक्रिया पर निर्भर नहीं करता बल्कि आर्थिक तौर पर प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया में छोटी पूँजी को उजाड़ता है। सवाल यह है कि क्या भारतीय खेती में इन खेती क़ानूनों से आदिम संचय होगा जिसके ज़रिये श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध संघटित होना है? नहीं! भारतीय खेती में श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध दशकों से मौजूद है और मौजूदा खेती क़ानून वास्तव में उसी अन्तरविरोध के एक नये स्तर पर विकसित होने के कारण बड़े पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता बन गये हैं।

आखिरी बात यह कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद सामान्य पूँजीवादी खेती और कॉरपोरेट पूँजीवादी खेती के बीच कोई गुणात्मक अन्तर नहीं करता है। उद्योग और कृषि दोनों में ही, मार्क्सवाद-लेनिनवाद सामान्य माल उत्पादन (simple commodity production) और पूँजीवादी माल उत्पादन में फर्क अवश्यक करता है। लेकिन पूँजीवादी खेती, पूँजीवादी खेती होती है जिसका अर्थ होता है खेतिहर उत्पादन सम्बन्धों में तीन मुख्य वर्गों की एक संरचना का अस्तित्व में आना, जैसा कि मार्क्स ने 'पूँजी' के खण्ड तीन में बताया है: पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी फ़ार्मर और खेतिहर सर्वहारा वर्ग। यदि रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों के फ्रेमवर्क में भूमि का राष्ट्रीकरण हो जाता है, तो भूमि का एकाधिकारी मालिकाना समाप्त हो जाता है और इसलिए लगानजीवी पूँजीवादी भूस्वामी (capitalist rentier landlord) के वर्ग के रूप में समाप्त होने के साथ निरपेक्ष लगान (absolute rent) समाप्त हो जाता है, लेकिन विभेदक लगान (differential rent) की मौजूदगी बनी रहती है, जो कि बेशी मुनाफ़े (surplus profit) के रूप में सबसे ख़राब ज़मीन के पूँजीवादी फ़ार्मर के अलावा अन्य सभी पूँजीवादी फ़ार्मरों को मिलता है। बहरहाल, पूँजीवादी भूस्वामी व पूँजीवादी फ़ार्मर बड़ा हो सकता है या छोटा हो सकता है, व्यक्ति हो सकता है या कोई कॉरपोरेट घराना, इससे पूँजीवादी खेती के चरित्र में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आता है। बल्कि छोटी पूँजी से बड़ी पूँजी की ओर संक्रमण, यानी कि पूँजी के संघनन और संकेन्द्रण (concentration and centralization of capital) की प्रक्रिया, उद्योगों के ही समान खेती के क्षेत्र में भी घटित होती है, हालाँकि अलग दर से और अलग रूप में। इससे पूँजीवादी शोषण की मूल अन्तर्वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं आता है। दूसरी बात, यह प्रक्रिया भी किसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं घटित होती है, जैसा कि हमारे लेखक महोदय को लगता है, बल्कि पूँजीवाद की स्वाभाविक आर्थिक गति से ही होती है।

खेती में बड़ी इजारेदार पूँजी का प्रवेश और धनी किसानों-कुलकों की नियति

अब इस प्रश्न पर आते हैं कि खेती के क्षेत्र में बड़ी इजारेदार पूँजी यानी कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश का धनी किसानों की आर्थिक नियति पर क्या असर पड़ेगा और इसके बारे में सर्वहारा वर्ग का नज़रिया क्या होना चाहिए।

कॉरपोरेट की घुसपैठ से बेशक धनी किसानों का एक हिस्सा सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम में नीचे जायेगा और एक हिस्सा खेती के क्षेत्र से बाहर भी होगा। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि लाभकारी मूल्य की लड़ाई उन अर्थों में उनके अस्तित्व की लड़ाई है, जिन अर्थों में ग़रीब किसान अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते हैं, जो कि उजरती श्रम का शोषण नहीं करते और इस रूप में पूँजीपति नहीं हैं, बल्कि मूलत: और मुख्यत: अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुके हैं! लेखक महोदय के अनुसार लाभकारी मूल्य महज़ लागत से ऊपर दिया जाने वाला एक न्यूनतम दाम है जोकि वास्तविक किसानों के जीवनयापन के लिए और अपनी पीढ़ियाँ पालने के लिए ज़रूरी है! धनी किसानों के साथ गलबहियाँ करने के लिए पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय इतने आतुर हैं कि लाभकारी मूल्य की पूरी परिभाषा ही उलट देते हैं और लाभकारी मूल्य को ऐसे दिखाते हैं मानो वह धनी किसानों (और सभी किसानों के लिए!) के लिए गुज़ारे योग्य ज़रूरी दाम हो, हालाँकि एकदम शब्दश: ऐसा दावा करने से वह बच निकलते हैं! लेकिन इस चालाकी के बावजूद उनके तर्कों का अर्थ यही निकलता है, अन्यथा लाभकारी मूल्य का किसी भी राजनीतिक वर्गीय परिप्रेक्ष्य से समर्थन का कोई मतलब ही नहीं निकलता है। आइये देखते हैं, सच्चाई क्या है।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि लाभकारी मूल्य तक पहुँच ही पूरे देश में मात्र 6 प्रतिशत किसानों की है और जहाँ ग़रीब और निम्न मँझोले किसानों की भी लाभकारी मूल्य तक कुछ पहुँच है, वहाँ भी उन्हें लाभकारी मूल्य का कुल नुकसान होता है। लाभकारी मूल्य व्यापक लागत के ऊपर दी जाने वाली 40-50 प्रतिशत के शुद्ध मुनाफ़ा दर को सुनिश्चित करता है। यह एक प्रकार का बेशी मुनाफ़ा (surplus profit) और (इजारेदार भूस्वामित्व की स्थितियों में) लगान (rent) है, जो सरकार के हस्तक्षेप के द्वारा धनी किसान-कुलक वर्ग को मिलता है और कुल अर्थव्यवस्था की मुनाफ़े की औसत दर से ऊपर मुनाफ़ा देता है। लाभकारी मूल्य की लड़ाई सिर्फ़ मुनाफ़े में हिस्सेदारी के लिए बड़ी एकाधिकार पूँजी और ग्रामीण पूँजी के बीच की लड़ाई है ना कि धनी किसानों के अस्तित्व की लड़ाई!

पंजाब के धनी किसानों यानी 10 हेक्टेयर से अधिक भूमि

वाले किसानों की औसत घोषित आय (क्योंकि सूदख़ोरी, लगान और कमीशनख़ोरी से भी धनी किसानों व उच्च मध्यम किसानों को अघोषित आय होती है, जिसका प्रो. सरदारा सिंह जोहल व अन्य कई कृषि विशेषज्ञों के अनुसार कोई ब्यौरा मौजूद नहीं होता है) प्रति वर्ष 12 लाख रुपये से कुछ अधिक बैठती है। जबकि उच्च मध्यम किसानों (5-6 हेक्टेयर से ज़्यादा वाले किसान) की आय भी 6 लाख प्रति वर्ष से ऊपर बैठती है। पटियाला विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के पवनदीप कौर, गियान सिंह व सर्बजीत सिंह के नमूना सर्वेक्षण के अनुसार पंजाब के 10 हेक्टेयर से अधिक ज़मीन वाले किसानों की सालाना आय है रुपये 12,02,780.38 रुपये प्रति वर्ष, यानी क़रीब रुपये 1,00,231 प्रति माह। उनका सालाना उपभोग रुपये 11,36,247.03 सालाना है, यानी प्रति माह वे रुपये 94,688 अपने उपभोग पर ख़र्च करते हैं। यानी हर वर्ष इनको रुपये 66,533.35 की शुद्ध बचत होती है। ये वे बड़े किसान हैं जो कि अपने खेतों में स्वयं काम नहीं करते, बल्कि उजरती श्रमिकों का शोषण करके मुनाफ़ा कमाते हैं। इनकी आय सीमान्त किसानों से 6 गुना और खेतिहर मज़दूरों से 12 गुना ज़्यादा है। 4 हेक्टेयर से अधिक ज़मीन रखने वालों की घोषित आमदनी लगभग रुपये 5,66,408 सालाना है, यानी लगभग रुपये 47,201 प्रति माह। यह भी देश की कुल वर्ग संरचना के मुताबिक उच्च मध्य व मध्यम वर्ग में ही आयेगा।

लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह घोषित आय धनी और उच्च मध्यम किसानों की कुल आय का केवल एक हिस्सा है। उनकी वास्तविक आय इससे कहीं ज़्यादा है। इनकी वास्तविक आय (घोषित व अघोषित) का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा सूद और लगान से भी आता है, जो कि कहीं भी आधिकारिक बही-खाते में दर्ज़ नहीं होता और यह कमाई भी हज़ारों और कई बार लाखों में होती है। यह रिपोर्ट पढ़ें: www.firstpost.com/business/money-lending-by-punjabs-rich-farmers-is-widening-the-wealth-gap-in-states-countryside-4437131.html

ठोस आँकड़ों को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि धनी और उच्च मध्यम किसान के लिए लाभकारी मूल्य की लड़ाई अपने बुनियादी गुज़ारे को सुनिश्चित करने की लड़ाई नहीं है बल्कि यह उनके द्वारा अपने मुनाफ़े और कुल विनियोजित बेशी मूल्य में अपने हिस्से को क़ायम रखने और बढ़ाने की लड़ाई है। इसलिए पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय ने अभी तथ्यों की ढंग से थाह नहीं ली है और बस धनी किसानों-कुलकों की पालकी का कहार बनने की जल्दी में वह पोजीशन पेपर लिखने बैठ गये!

इसी बुनियादी मूर्खता की नींव पर लेखक महोदय अपने आगे के कुतर्क गढ़ते हैं। लेखक महोदय जब सभी किसानों या 'मालिक किसानों' के अस्तित्व के संकट से जोड़ कर लाभकारी मूल्य की माँग का समर्थन करते हैं तो उसी के आधार पर वह किसानों के सारे संस्तर के एक हो जाने की बात करते हैं। शुरुआत में ही वह आन्दोलन में किसानों के सभी संस्तर की एकता का जश्न मनाते हैं और आलेख के अंतिम हिस्से में लाभकारी मूल्य की माँग को सही ठहरा कर उस पर सारे किसानों को संगठित करने का आह्वान करते हैं! यह सीधे-सीधे सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान आबादी को धनी किसानों-कुलकों का पिछलग्गू बनाने की अवसरवादी क़वायद है और किसान आबादी के विभेदीकरण की बुनियादी सच्चाई पर परदा डालती है और उनके हितों को एक बतलाती है। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद को छोड़कर नरोदवाद के गड्ढे में छलाँग लगाने के सिवा और कुछ नहीं है। दूसरी बात, लेखक महोदय के दावे भी तथ्यों पर सही नहीं ठहरते।

सबसे पहले तो यह कहना ही ग़लत है कि कॉरपोरेट पूँजी के प्रवेश ने सारे किसानों को एकताबद्ध कर दिया है। सच्चाई यह है कि पंजाब में और गौण रूप में हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश व राजस्थान के कुछ हिस्सों के अलावा, मौजूदा धनी किसान आन्दोलन का अन्य राज्यों में कोई व्यापक आन्दोलन जैसा चरित्र नहीं है। बाक़ी राज्यों में किसान जनसमुदायों का कोई व्यापक आन्दोलन नहीं है और अधिकांशतया कुछ विशेष संगठन और यूनियनें हैं जो कि इस पर प्रदर्शन आदि कर रही हैं। इसलिए चाहे किसी को यह अच्छा लगे या बुरा, सच्चाई यही है कि यह मूलत: और मुख्यत: पंजाब और एक हद तक हरियाणा व पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी किसानों-कुलकों का ही आन्दोलन है। आन्दोलन की माँग भी धनी किसानों-कुलकों के हित की माँग है ना कि छोटे या निम्न मँझोले किसानों की, भले ही राजनीतिक चेतना की कमी और विविध प्रकार के आर्थिक बन्धनों में धनी किसानों-कुलकों से बँधे होने के कारण छोटे या निम्न मँझोले किसानों की भी एक आबादी प्रदर्शन स्थलों पर मौजूद है! यह तब भी साबित हो गया था जब धनी किसानों-कुलकों की पंचायतों ने गाँव के हर घर से प्रदर्शन में लोगों को भेजने का और न भेजने वाले घरों पर 2100 रुपये का जुर्माना लगाने का फरमान भी सुनाया। यदि यह सभी किसानों का आन्दोलन है और कॉरपोरेट पूँजी के ख़तरे ने सारे किसानों को ऐक्यबद्ध कर दिया है, जैसा कि हमारे लेखक महोदय का दावा है, तो ऐसे फरमान की कोई ज़रूरत नहीं थी।

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, यदि इस आन्दोलन में छोटे किसानों का एक तबका शामिल हो भी रहा है वह इसलिये क्योंकि वे एक तरफ धनी किसानों और सूदख़ोरों पर आर्थिक तौर से निर्भर हैं और उनके दवाब में आन्दोलन में जा रहे हैं। दूसरा कारण है कि खुद उनके बीच अपनी स्वतंत्र वर्ग चेतना और वर्ग संगठन का अभाव है। इसी कारण कुछ यह समझ बैठते हैं कि लाभकारी मूल्य सभी को मिल जाये तो उनका भी फायदा होगा या यदि लाभकारी मूल्य बढ़ाया गया तो शायद उन्हें भी अपनी उपज का बेहतर दाम मिले। खेतिहर मज़दूरों की भी एक छोटी सी आबादी इन प्रदर्शनों में आ रही है और उसका भी कारण गाँव

में धनी किसानों-कुलकों पर आर्थिक-सामाजिक निर्भरता और साथ ही राजनीतिक चेतना का अभाव है जिसके कारण उन्हें लगता है कि यदि धनी किसानों-कुलकों की आमदनी बढ़ेगी तो उनकी मज़दूरी भी बढ़ेगी। लेकिन ठोस आँकड़े बताते हैं कि ऐसा कोई 'ट्रिकल डाउन' नहीं होता है।

जैसा कि हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं, बहुसंख्यक किसान आबादी को लाभकारी मूल्य मिलता ही नहीं है! देश में मात्र ऊपर के 6 प्रतिशत किसान ही लाभकारी मूल्य पर अपने उत्पाद बेच पाते हैं। इसके बावजूद यदि यह मानकर भी चला जाये कि लाभकारी मूल्य किसानों के सभी संस्तर तक पहुँच जाये तो भी लाभकारी मूल्य ग़रीब व निम्न-मँझोले किसान वर्ग के हित के खिलाफ़ जायेगा क्योंकि उसके पास बेचने योग्य उपज की मात्रा बहुत बड़ी नहीं होती है और कभी-कभी तो होती ही नहीं है, और साल भर में वे जितना अनाज लाभकारी मूल्य पर बेचते हैं, उससे ज़्यादा ख़रीदते हैं। लाभकारी मूल्य से खाद्यान्न महँगा होता है, यह बात तो खुद पीआरसी सीपीआई (एमएल) के हमारे लेखक महोदय ने स्वीकार की है! ऊँचे लाभकारी मूल्य पर सरकारी खरीद यानी ऊँचे सरकारी दाम के कारण कम-से-कम धान, गेहूँ, कपास, मक्का और कुछ दलहनों की बाज़ार क़ीमतें भी ऊँची हो जाती हैं। ये वे चीज़ें हैं जिनसे व्यापक आबादी का नियमित आहार बनता है। नतीजतन, भोजन पर व्यापक आबादी का ख़र्च बढ़ता है, उनके पोषण का स्तर गिरता है, अन्य आवश्यक वस्तुओं पर ख़र्च कम होता है और कुल मिलाकर उनका जीवन-स्तर नीचे जाता है। यह बात मार्क्सवादी और ग़ैर-मार्क्सवादी विश्लेषकों ने बार-बार साबित की है, जिस पर शक़ करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। स्पष्ट है कि लाभकारी मूल्य निम्न-मँझोले किसानों, छोटे-ग़रीब किसानों और मज़दूर वर्ग के हितों के ख़िलाफ़ जाता है!

पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के मातहत, शुद्धत: जनवादी अधिकारों के हनन के मसले के अलावा, आम तौर पर किसानों के सभी संस्तरों की एकता की बात करना ही एक टुटपुँजिया लाइन है, न कि एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति। आज पूँजीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई में धनी किसानों और कुलकों का कोई भी हिस्सा मज़दूर वर्ग या ग़रीब तथा सीमान्त किसानों के साथ नहीं आ सकता, ठीक वैसे ही जैसे बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा नहीं आ सकता। आज अगर कोई आम तौर पर पूँजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से से रणनीतिक मोर्चे की बात करता है और वह भारत को पूँजीवादी देश भी मानता है और यहाँ समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल को भी मानता है, तो कहना पड़ेगा कि वह जाने या अनजाने या किसी प्रकार की सियासी मौक़ापरस्ती करते हुए मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी करने और उसे धोखा देने का काम कर रहा है! धनी किसान-कुलक वर्ग यानी खेतिहर पूँजीपति वर्ग की छोटे और निम्न-मँझोले किसानों से कभी एकता नहीं बन सकती क्योंकि उनके वर्ग हित ही अलग हैं! बल्कि सच्चाई यही है कि गाँवों में खेतिहर मज़दूर वर्ग और मेहनतकश ग़रीब किसान वर्ग का मुख्य वर्ग शत्रु ही यह खेतिहर पूँजीपति वर्ग है जो मुनाफ़े, लगान व सूद के ज़रिये उसे लूटता है और उसे उजाड़ने के लिए प्रमुख रूप से ज़िम्मेदार है। स्पष्टत: पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय वर्ग संघर्ष नहीं बल्कि वर्ग सहयोग की कार्यदिशा पेश कर रहे हैं, शोषित वर्गों के लिए जिसका मतलब हमेशा ही वर्ग पुछल्लावाद की कार्यदिशा होती है।

लेखक महोदय जिस खेतिहर पूँजीपति वर्ग के साथ एकजुटता बनाने की बात कह रहे हैं, उसके बारे में लिखते हुए लेनिन व स्तालिन ने बार-बार बताया है कि मज़दूर वर्ग अपने साझा शत्रु के ख़िलाफ़ खेतिहर सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान वर्ग से मज़बूत संश्रय बनाने, मँझोले किसानों को जीतने या तटस्थ करने और धनी किसानों-कुलकों के विरुद्ध संघर्ष करने की रणनीति को अपनायेगा। वह किसी भी सूरत में जनवादी क्रान्ति की मंज़िल से इतर और राजनीतिक जनवाद के प्रश्न से इतर धनी किसानों के साथ मोर्चा नहीं बना सकता! यही वजह है कि किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण को सर्वहारा नेतृत्व में सचेतन तौर पर अंजाम देने के लिए खेतिहर मज़दूरों की अलग यूनियन और ग़रीब किसानों की अलग समितियाँ व बाद में उनकी अलग सोवियतें बनाने की भी वक़ालत की थी।

यहाँ एक बात और साफ़ कर दें कि शासक वर्ग के विभिन्न धड़ों के आपसी अन्तरविरोधों के तीख़े होने पर सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश वर्ग अपने वर्ग हितों के मद्देनज़र कुछ स्थितियों में किसी एक धड़े के साथ अल्पकालिक मुद्दा-आधारित रणकौशलात्मक मोर्चा बना सकते हैं, लेकिन वह भी तब सम्भव है जब कि दोनों पक्ष संयुक्त चार्टर में एक-दूसरे की कुछ माँगों को शामिल और स्वीकार करने के लिए तैयार हों और दूसरा यह कि मुद्दा शुद्धत: राजनीतिक जनवाद की लड़ाई का हो। लेकिन जब धनी फ़ार्मर-कुलक पक्ष सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान आबादी की किसी माँग को अपने चार्टर में जगह देने को तैयार ही नहीं हैं और यह लड़ाई ही धनी फ़ार्मर-कुलक वर्ग के आर्थिक वर्ग हितों की है, तो साफ़ है कि यहाँ कोई रणकौशलात्मक मोर्चा भी बनाना सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश ग़रीब किसान आबादी से ऐसी माँग करना उनसे अपने वर्ग हितों को तिलांजलि देकर धनी किसानों-कुलकों का पिछलग्गू बनने की और अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का आत्मसमर्पण कर देने की माँग होगी। यही माँग पीआरसी सीपीआई (एमएल) इस समय सर्वहारा वर्ग और आम ग़रीब किसान आबादी से कर रहा है।

पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय कहते हैं कि मज़दूर वर्ग को अपनी तुच्छ आर्थिक माँगों को किसान आन्दोलन के समक्ष नहीं रखना चाहिए और उसके सामने याचक बनकर दीन-हीन बनकर नहीं खड़े हो जाना चाहिए और भावी शासक वर्ग के रूप में उसमें हस्तक्षेप करके (वास्तव में समर्थन करके) आम किसानों को मुक्ति का रास्ता दिखाना चाहिए!

एकदम मूर्खतापूर्ण बात। देखते हैं कैसे!

पहली बात तो यह है कि मज़दूर वर्ग इस आन्दोलन में एक ही रूप में हस्तक्षेप कर सकता है: उसके बारे में सर्वहारा वर्गीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण पेश करके और उसके ज़रिये मज़दूर वर्ग और मेहनतकश किसान आबादी को इस बात के प्रति आगाह करके कि उसके वर्ग हित धनी किसानों के वर्ग हितों से बिल्कुल भिन्न हैं, ताकि आम मेहनतकश आबादी ग्रामीण पूँजीपति वर्ग से अलग अपने स्वतंत्र राजनीतिक संगठन और अवस्थिति को संघटित कर सके। दूसरी बात, इस आन्दोलन में अन्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप करके (यानी समर्थन करके) आम किसानों को मुक्ति का रास्ता नहीं दिखलाया जा सकता है, क्योंकि यह आन्दोलन आम किसानों (जिसे हम सीमान्त, ग़रीब और निम्न मँझोला किसान समझते हैं जो कि कुल किसान आबादी में 94 प्रतिशत के क़रीब है) के हितों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता है। इसका समर्थन करके अपने आपको कम्युनिस्ट कहने वाली ताक़तें वास्तव में आम किसानों को धनी किसानों-कुलकों का पिछलग्गू बने रहने और उनके राजनीतिक वर्चस्व के मातहत बने रहने का रास्ता दिखला रही हैं, न कि मुक्ति का। तीसरी बात, मौजूदा धनी किसान आन्दोलन भी न सिर्फ तुच्छ आर्थिक माँगों पर ही हो रहा है, बल्कि यह जनविरोधी तुच्छ आर्थिक माँगों पर हो रहा है। ऐसे में, अगर धनी किसान-कुलक वर्ग कॉरपोरेट पूँजी के विरोध में मज़दूर वर्ग का समर्थन चाहता है, तो मज़दूर वर्ग ऐसे आन्दोलन के चार्टर में अपनी उन अहम आर्थिक माँगों को शामिल करने की शर्त रखकर अपनी स्वतंत्र राजनीतिक अवस्थिति को रेखांकित करता है, न कि वह याचक बनकर दीन-हीन हो जाता है! ऐसी बात कहकर ही पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय ने अपनी राजनीतिक समझदारी की इज़्ज़त बचाने वाले आखिरी रूमाल को भी फेंक दिया है और अपना राजनीतिक केंचुल नृत्य पूरा कर दिया है! वास्तव में, धनी किसानों-कुलकों की माँग के समर्थन में यदि मज़दूर वर्ग एक मुद्दा-आधारित रणकौशलात्मक संश्रय के लिए अपना कोई भी वर्ग हित सामने नहीं रखता, तो वास्तव में वह धनी किसानों की पालकी का कहार बनने के समान होगा, जो कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) कर रहा है।

क्या लाभकारी मूल्य का सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) से कोई कारणात्मक सम्बन्ध है?

लाभकारी मूल्य की माँग के समर्थन में पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय एक और घिसा-पिटा पुराना और ग़लत तर्क देते हैं, जिसका हमारे समेत कुछ अन्य लोग कई बार खण्डन कर चुके हैं: लाभकारी मूल्य के ख़त्म होने से पीडीएस की व्यवस्था ख़त्म होगी जिससे ग़रीब आबादी को नुकसान होगा! एक तरफ वे यह भी कहते हैं कि लाभकारी मूल्य से अनाज के दाम बढ़ेंगे जिससे मज़दूर-मेहनतकश आबादी को अपने भोजन पर ज़्यादा ख़र्च करना पड़ेगा (क्योंकि इस सच्चाई को नकारना मुश्किल है) लेकिन दूसरी तरफ वो लाभकारी मूल्य को पीडीएस से जोड़कर अन्ततः लाभकारी मूल्य की माँग को सही ठहराने की कोशिश करते हैं। लाभकारी मूल्य का किसी भी प्रकार से समर्थन न कर पाने पर कई वामपंथी उसे पीडीएस से जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं, जबकि सच्चाई यह है कि पीडीएस और सरकारी ख़रीद का लाभकारी मूल्य से कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। लेखक महोदय लिखते हैं:

"लाभकारी मूल्य को ख़त्म कर के पीडीएस की व्यवस्था पर अन्तिम चोट करना ही कृषि क़ानूनों का लक्ष्य है और इसका अत्यन्त ख़राब प्रभाव ग्रामीण ग़रीब आबादी से लेकर शहरी आबादी की खाद्य सुरक्षा पर पड़ेगा और इस कारण इन ग़रीबों द्वारा इस क़ानून का विरोध लाज़मी है लेकिन फिर भी इसके समर्थन में न तो ग्रामीण ग़रीब जनता और न ही शहरी मज़दूर वर्ग ही दिल खोलकर खड़ा हो सकता है, क्यों कि बढ़े हुए लाभकारी मूल्य को लगातार बढ़ाते जाने की माँग से मज़दूरों व मेहनतकश आबादी को अपनी भोजन सामग्री पर ज़्यादा खर्च करना पड़ेगा। इसलिए समग्रता में देखें तो लाभकारी मूल्य के मसले पर व्यापक ग़रीब आबादी तथा मज़दूर वर्ग का खुला समर्थन मिलने में बाधा आ सकती है और विशाल ग़रीब आबादी नहीं चाहते हुए भी आन्दोलन से तटस्थ रह सकती है।" (ज़ोर हमारा)

यह भयंकर मूर्खतापूर्ण पैराग्राफ़ है जिसमें साफ़ दिख रहा है कि लेखक महोदय सच्चाई को आंशिक तौर पर समझते हुए भी धनी किसान-कुलक आन्दोलन की मूल केन्द्रीय माँग की आलोचना करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। नतीजतन, उन्होंने एक ऐसे पैराग्राफ़ का साहित्यिक उत्पादन किया है जो अपने मूर्खतापूर्ण विरोधाभासों के कारण अर्थहीन बन गया है। दूसरी बात, इसमें स्वयं ही एक अप्रत्यक्ष स्वीकारोक्ति मौजूद भी है कि किसानों के सभी संस्तरों की माँगें एक नहीं हैं। बहरहाल, अभी हम लाभकारी मूल्य और पीडीएस के बीच कारणात्मक सम्बन्ध न होने के विषय पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे क्योंकि अलग से लाभकारी मूल्य की माँग के प्रतिक्रियावादी चरित्र के बारे में हम ऊपर लिख चुके हैं।

लाभकारी मूल्य और पीडीएस का आपस में कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। तथ्य यह है कि पीडीएस का अस्तित्व लाभकारी मूल्य के कम से कम दो दशक पहले से रहा है, हालाँकि लाभकारी मूल्य की शुरुआत से एक दशक पहले ही इसे यह नाम दिया गया था। दूसरी बात, कई देशों में जहाँ अमीर कुलकों-किसानों के लिए लाभकारी मूल्य की कोई व्यवस्था नहीं है, और कृषि क़ीमतें काफ़ी हद तक 'मुक्त बाज़ार' से निर्धारित होती हैं, वहाँ किसी न किसी प्रकार की सार्वजनिक वितरण प्रणाली (सार्वभौमिक या लक्षित) मौजूद है और वहाँ भी सरकारी ख़रीद होती है। तीसरी बात, भारत

में पीडीएस को नष्ट करने की शुरुआत 1992 में हुई, जब इसे पहले आरपीडीएस (संशोधित पीडीएस) और फिर 1997 में टीपीडीएस (लक्षित पीडीएस) में बदल दिया गया। यह वह दौर है जिससे लेकर 2019-20 तक लाभकारी मूल्य व्यवस्था लगातार बढ़ती रही है और यही वह दौर है जब कि योजनाबद्ध तरीके से पीडीएस को नष्ट करने का काम भी अलग-अलग सरकारें करती रही हैं।

अब एक उदाहरण से भी समझ लेते हैं कि सरकारी ख़रीद और इसलिए पीडीएस का लाभकारी मूल्य की व्यवस्था से कोई कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। बिहार में 2006 में एमएसपी की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। अगर सरकारी ख़रीद की पूर्वशर्त एमएसपी है, तो बिहार में सरकारी ख़रीद को और कम हो जाना चाहिए था। लेकिन क्या वाकई ऐसा हुआ है? नहीं! उल्टे यदि दर की बात करें तो बिहार में खाद्यान्न की सरकारी ख़रीद पंजाब और हरियाणा से कहीं तेज़ गति से बढ़ी है। 2005 से 2015 के बीच बिहार से गेहूँ की सरकारी ख़रीद 0.7 प्रतिशत से बढ़कर 11.28 प्रतिशत हो गयी, जबकि इसी दौर में पंजाब से गेहूँ की ख़रीद 66.79 प्रतिशत से कम होकर 63.84 प्रतिशत पर और हरियाणा में 62.58 प्रतिशत से घटकर 58.38 प्रतिशत पर आ गयी। इसी दौर में बिहार में धान की सरकारी ख़रीद 1.7 प्रतिशत से बढ़कर 21.4 प्रतिशत हो गयी, जबकि पंजाब में धान की सरकारी ख़रीद 82.7 प्रतिशत से 76.1 प्रतिशत रह गयी। निश्चित तौर पर, अभी भी सरकारी ख़रीद निरपेक्ष तौर पर पंजाब और हरियाणा में अन्य किसी भी राज्य से कहीं ज़्यादा है और उसके ठोस राजनीतिक कारण और कुछ आर्थिक कारण भी हैं। लेकिन यदि एमएसपी ख़त्म होने से सरकारी ख़रीद का कोई कारणात्मक रिश्ता होता तो बिहार में सरकारी ख़रीद घटनी चाहिए थी और पंजाब व हरियाणा में बढ़नी चाहिए थी। लेकिन तथ्य कुछ और दिखला रहे हैं।

पीडीएस को पहले आरपीडीएस और फिर टीपीडीएस में बदलने के पीछे ऊँचा लाभकारी मूल्य भी एक कारण था, जिससे ग़रीब मेहनतकशों के लिए खाद्य असुरक्षा और बढ़ गयी। वजह यह कि बढ़ते लाभकारी मूल्य के कारण सरकार अपनी ख़रीद को पीडीएस के ज़रिये ग़रीब परिवारों को रियायती दरों पर खाद्यान्न मुहैया कराने की बजाय, वाणिज्यिक रूप से बेचना और यहाँ तक कि सड़ा देना पसन्द करती है। पीडीएस को ख़त्म करना एक अलग एजेण्डा है, क्योंकि यह मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी की मोलभाव की क्षमता को पूँजी के बरक्स कम करने के लिए ज़रूरी है। ये दो अलग-अलग मुद्दे हैं जो दो अलग-अलग प्रकार की वर्गीय माँगों को जन्म देते हैं। यदि, लाभकारी मूल्य व्यवस्था और पीडीएस के बीच कोई कारणात्मक सम्बन्ध खोजा भी जाये, तो वह विलोम अनुपाती ही होगा।

क्या लाभकारी मूल्य की माँग राज्य के साथ ठेका खेती की माँग और समूचे उत्पाद की सरकारी ख़रीद की माँग है?

लाभकारी मूल्य के समर्थन में इतने कुतर्क देने के बाद अन्त में पीआरसी सीपीआई (एमएल) के लेखक महोदय धनी किसानों की क़ानूनी लाभकारी मूल्य की माँग को सीधे सरकारी खरीद से और कृषि उत्पादों के बिक्री की समस्या से जोड़ देते हैं। उनका मानना है कि किसान सारी फसलों पर लाभकारी मूल्य की माँग कर रहे हैं और सारी फसलों की पूर्ण सरकारी खरीद की माँग कर रहे हैं। लेखक महोदय कहते हैं:

लाभकारी मूल्य वास्तव में लाभकारी मूल्य नहीं, बल्कि ख़रीद गारंटी और राज्य के साथ कॉन्ट्रैक्ट खेती की माँग है।

कृषि उत्पाद के उचित दाम की गारंटी की समस्या की जड़ में क़ानून होना या न होना नहीं है अपितु समस्त कृषि उत्पादों की बिक्री की समस्या का हल क़ानूनी लाभकारी मूल्य नहीं बल्कि सर्वहारा क्रान्ति है!

पहली बात तो यह है कि सटीक अर्थों में बात करें तो लाभकारी मूल्य की व्यवस्था राज्य के साथ ठेका खेती की व्यवस्था नहीं है। ठेका खेती के मातहत ठेका देने वाला केवल उपज का न्यूनतम मूल्य निर्धारित नहीं करता है, बल्कि उपज की पूर्वनिर्धारित मात्रा, किस्म और गुणवत्ता भी करार का अनिवार्य अंग होती है, जिसके बिना ऐसे किसी क़रार का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। भारतीय राज्यसत्ता लाभकारी मूल्य की व्यवस्था में उपज की मात्रा, किस्मी और गुणवत्ताा को लेकर कोई धनी किसानों-कुलकों या किसी भी किसान से कोई क़रार नहीं करती है। वह केवल उन्हें एक न्यूनतम लाभकारी मूल्य का प्रोत्साहन देती है, ताकि वे कुछ निश्चित फसलों के उत्पादन में पूँजी निवेश करें। यह ठेका खेती की व्यवस्था है ही नहीं।

फिर लाभकारी मूल्य की व्यवस्था क्या है? इसकी शुरुआत 1960 के दशक में निश्चित फसलों के उत्पादन के लिए भौतिक प्रोत्सातहन देने के लिए किया गया था क्योंकि उन खाद्यान्न फसलों में आयात पर निर्भरता समाप्त करना उस समय समूचे भारतीय पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता थी। निश्चित तौर पर आज पूँजीपति वर्ग के लिए ऐसे लाभकारी मूल्य की आवश्यकता समाप्त हो गयी है। लेकिन किसी भी रूप में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था कोई राज्य के साथ ठेका खेती की व्यवस्था नहीं है, बल्कि धनी किसानों-कुलकों के एक वर्ग के लिए एक प्रकार की भौतिक प्रोत्साहन-संरचना (incentive-structure) प्रदान करने की व्यवस्था है, जिसकी पूँजीवादी अर्थों में भी आज प्रासंगिकता समाप्त हो चुकी है।

लेखक महोदय की उपरोक्त बातों में अन्य कई ग़लत और अहमकाना दावों की भरमार है, जिस पर आगे आयेंगे, लेकिन

पहले देख लेते हैं कि लेखक महोदय अपने ज्ञान के मोती किस प्रकार बिखेरे जा रहे हैं! आगे हम साफ़ देखते हैं कि जब वह लाभकारी मूल्य को पूरे कृषि उत्पाद के बिक्री की समस्या से जोड़ देते हैं तब वह सर्वहारा क्रान्ति की बात लाते हैं। क़ानूनी लाभकारी मूल्य के बरक्स वह क्रान्ति को एकमात्र उपाय बताते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि लेखक महोदय के अनुसार क्रान्ति जब किसान आन्दोलन पर सवार होकर आयेगी तो न सिर्फ़ छोटे किसान बल्कि धनी किसान भी उनका साथ देंगे! वह साफ़ कहते हैं कि:

ग़रीब किसानों का ही नहीं धनी किसानों का भी पूँजीवाद से विश्वास हिलेगा और हिल रहा है। इस आन्दोलन में उनकी अभी तक की भूमिका स्वयं इसका गवाह है। 2021 का भारतीय धनी किसान, जो आज पूँजीवादी व्यवस्था के मानवद्रोही स्वरूप का इतने नज़दीक से सामना कर रहा है, जल्द ही पुरातन को त्याग कर सर्वहारा राज्य के अन्तर्गत सामूहिक खेती के रास्ते के अमल में हमारे आह्वान का स्वागत और समर्थन करेगा, क्योंकि इसके बिना अब किसान समुदाय के बचने का कोई रास्ता नहीं! (ज़ोर हमारा)

ऐसे आशावाद को देखकर तो दोन किहोते भी शर्म से ज़मीन में धँस गया होता! धनी किसान का पूँजीवाद से विश्वास हिल रहा है!? इससे हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है? जब भी छोटी पूँजी का बड़ी एकाधिकारी पूँजी से अन्तरविरोध तीव्र होगा और वह बेशी मूल्य के विनियोजन में अपने हिस्से को क़ायम रखने और बढ़ाने के लिए लड़ेगी, तो क्या वह पूँजीवाद-विरोधी बन जायेगी? तो क्या वह उजरती श्रम पर रोक, खेती में निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे और सामूहिक व राजकीय खेती को स्वीकार कर लेगी? अगर पीआरसी सीपीआई (एमएल) का यह विश्वास पुख्ता है, तो उसे धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन के मंच पर जाकर केवल उचित दाम देने का भ्रामक वायदा नहीं करना चाहिए, बल्कि यह भी बताना चाहिए कि जब पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति हो जायेगी, तो निजी सम्पत्ति का ख़ात्मा हो जायेगा, यदि तत्काल सामूहिक व राजकीय खेती न भी शुरू हो पायी तो ज़मीन का राष्ट्रीकरण हो जायेगा और उजरती श्रम पर रोक लगा दी जायेगी! मेरे ख्याल से यदि इस प्रकार के एडवेंचर को पीआरसी सीपीआई (एमएल) का नेतृत्व अपने हाथों में ले, तो धनी किसानों का नेतृत्व उन्हें तत्काल ही शारीरिक समीक्षा करके समझ देगा कि उसका न तो पूँजीवादी व्यवस्था से विश्वास उठा है, न ही वह सामूहिक खेती पर सहमत होने जा रहा है और असल में वह शोषण करने के अपने अधिकार के लिए लड़ रहा है! वह बिल्कुल पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर एक ऐसी माँग रख रहा है जोकि अपेक्षाकृत छोटी पूँजी हमेशा ही पूँजीवादी राज्यसत्ता के समक्ष रखती है: बड़ी पूँजी से प्रतिस्पर्द्धा में राजकीय संरक्षण की माँग। पूँजीवादी व्यवस्था किस दौर में है और अन्तरविरोधों के किस सन्धि-बिन्दु पर है, उसके आधार पर यह माँग कभी मानी जाती है तो कभी नहीं मानी जाती, लेकिन चाहे यह माँग मानी जाय या न मानी जाय, धनी किसानों-कुलकों समेत छोटा पूँजीपति वर्ग कभी समाजवादी कार्यक्रम को नहीं अपना लेता है! पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय की यह पूरी बात भयंकर सुधारवादी और टुटपुँजिया अवसरवाद से ग्रस्त है।

सच यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तरविरोधों और संकटों के बढ़ने के साथ जब छोटे पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा तबाह होता है तो भी पूरा छोटा पूँजीपति वर्ग एक वर्ग के तौर पर सर्वहारा वर्ग और समाजवादी क्रान्ति के साथ नहीं आ जाता है बल्कि किसी न किसी प्रकार टुटपुंजिया दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद की शरण में जाता है, जो कि सर्वहारा वर्ग से उतनी ही नफ़रत करता है और जिसका सबसे डरावना दु:स्वप्न यह होता है कि वह मज़दूर बन जायेगा। यह भी ध्यान रहे कि समूचा छोटा पूँजीपति वर्ग समाजवादी क्रान्ति के पहले तबाह होकर सर्वहारा वर्ग नहीं बन जाता है और न ही सर्वहारा वर्ग के साथ आ जाता है, सिर्फ इसलिए कि बड़ी पूँजी से उसके अन्तरविरोध बढ़ जाते हैं! ऐसा दावा करना एक ऐसे रुझान को अन्तिम नतीजा समझ लेना है, जिस रुझान के कई प्रतिरोधी कारक भी पूँजीवादी समाज में सक्रिय होते हैं और उसे अन्तिम नतीजा नहीं बनने देते। कहने का अर्थ है कि पूँजीवादी समाज में पूर्ण एकाधिकारीकरण, सेक्टरों के भीतर प्रतिस्पर्द्धा का समापन और छोटी पूँजी का पूर्ण ख़ात्मा सम्भव ही नहीं है; मार्क्स ने 'पूँजी' में और लेनिन ने भी अपनी कई रचनाओं में बताया है कि छोटे और मँझोले पूँजीपति वर्ग और यहाँ तक कि बड़े पूँजीपति वर्ग का भी एक हिस्सा तबाह होता है, लेकिन चूँकि पूँजीवाद का नियम ही असमान विकास होता है, इसलिए संलयन के साथ-साथ विखण्डन की एक प्रक्रिया भी पूँजीवाद में जारी रहती है। यही वजह है कि समझौते टूटते हैं, पूँजीवादी परिवार टूटते हैं, बड़े पूँजीपतियों का एक हिस्सा भी तबाह होकर मँझोले व छोटे पूँजीपतियों की कतार में शामिल होता है। वहीं छोटे पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा भी पहले से बुरी हालत में पहुँचता है, एक हिस्सा बरबाद होकर सर्वहारा वर्ग की कतार में भी शामिल होता है। लेकिन वर्गीय संरचना की इस गतिकी का यह अर्थ नहीं होता कि समाजवादी क्रान्ति से पहले समूचा छोटा पूँजीपति वर्ग या समूचा धनी किसान-कुलक वर्ग बरबाद होकर या बरबादी की कगार पर पहुँचकर सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद के पक्ष में आ जाता है और जैसा कि हमारे लेखक महोदय दावा कर रहे हैं, सामूहिक खेती के लिए तैयार हो जाता है! ऐसी बात सोचना भी वर्ग विश्लेषण को और पूँजीवादी समाज की गतिकी की मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझदारी को भूलने के समान है और भयंकर शेखचिल्लीवाद है। यदि मामला ग़ैरद्वन्द्वात्मक होने की हद तक और इतना सरल होता तो आज दुनिया समाजवादी संक्रमण के दौर में होती। लेकिन हमें सन्देह है कि पीआरसी

सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्त भूले हैं, क्योंकि कोई व्यक्ति वही चीज़ भूल सकता है, जो उसे कभी पता रही हो! हमें सन्देह है कि लेखक महोदय को कभी भी वर्ग विश्लेषण और पूँजीवादी समाज के मार्क्सवादी विश्लेषण के विषय में ठीक से जानकारी थी!

अब देखते हैं कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय अपनी उपरोक्त, मूर्खतापूर्ण बातों और दावों तथा असुधारणीय रूप से टुटपुंजिया कार्यदिशा के वैधीकरण के लिए सोवियत समाजवादी इतिहास के साथ किस प्रकार बदसलूकी और बदतमीज़ी करते हैं।

सोवियत समाजवादी संक्रमण के दौरान बोल्शेविकों की कृषि नीति के इतिहास के बारे में पीआरसी सीपीआई (एमएल) द्वारा किया गया विकृतिकरण

अब चूँकि धनी किसान न सिर्फ़ कॉरपोरेट पूँजी के खिलाफ़ बल्कि समूची पूँजीवादी व्यवस्था के ही खिलाफ़ होने वाले हैं, इसलिए कुलकों के इस आन्दोलन को समाजवादी क्रान्ति कर देने के लिए पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय यह कह कर ललकारते हैं कि सिर्फ़ सर्वहारा राज्य ही किसानों को उनकी पूरी उपज का 'उचित दाम' पर खरीद की गारंटी करेगा! कुलक आन्दोलन का नेतृत्व कर समाजवादी क्रान्ति कर देने के लिए वह इतने लालायित हैं कि सर्वहारा राज्य के बारे में वह किसानों को पूरी सच्चाई बताना ही या तो भूल जाते हैं या फिर जानबूझकर उस पर अवसरवादी तरीके से चुप्पी साध लेते हैं और समाजवाद का ऐसा खाका पेश करते हैं जिससे कि धनी किसानों का समर्थन प्राप्त कर सकें! आइये देखते हैं कि वे धनी किसानों को समाजवाद के पक्ष में लाने के लिए क्या कहते हैं:

यहाँ से आगे किसानों की मुक्ति का रास्ता सर्वहारा राज्य से हो कर जाता है, क्योंकि **एकमात्र सर्वहारा राज्य ही** पूँजी के तर्कों की अधीनता से बाहर निकल कर किसानों की समस्त उपज को उचित दाम पर खरीद सकता है। (ज़ोर हमारा)

मज़दूर वर्ग अगर आज अपने ऐतिहासिक कर्तव्य की पूर्ति करते हुए बुर्जुआ वर्ग के मुकाबले सत्ता का मौजूदा नहीं तो भविष्य का दावेदार बनकर, यानी भावी शासक वर्ग के रूप में, न कि किसी टुटपुँजिया वर्ग की तरह, बात करे तो उसे संघर्षरत किसानों से क्या कहना चाहिए? यही कि एकमात्र भावी सर्वहारा राज्य ही किसानों के समस्त उत्पादों की 'उचित' दाम पर खरीद कर सकता है। इसलिए वह न सिर्फ कॉरपोरेट के विरुद्ध उनके आन्दोलन का समर्थन करता है, अपितु वह इस बात का आह्वान भी करता है कि देश के सभी वास्तविक किसान स्वयं अपनी इच्छा से आपस में मिलकर सामूहिक फ़ार्म बनायें, जिसे मज़दूर वर्ग के राज्य से मुफ़्त ट्रैक्टर और सिंचाई के साधन सहित उन्नत बीज, खाद आदि की भी मुफ़्त सहायता दी जायेगी, ताकि वे ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन के लक्ष्य के साथ सर्वहारा राज्य के साथ पूर्व निर्धारित फसलों और मूल्य पर खेती कर सकें, अर्थात कॉन्ट्रैक्ट खेती कर सकें। (पी.आर.सी. के फेसबुक पोस्ट से, ज़ोर हमारा)

कुलकों के इस आन्दोलन से ही सर्वहारा क्रान्ति कर देने को आतुर मास्टरजी पूरे सर्वहारा राज्य की एक झूठी तस्वीर कुलकों के सामने पेश करते हैं और गोलमाल बातें करते हैं। आइये देखते हैं कैसे।

पहली बात, सर्वहारा वर्ग समूची किसान आबादी से मुक्ति का वायदा नहीं करता है। जिस प्रकार वह औद्योगिक क्षेत्र के छोटे व मँझोले पूँजीपतियों से ऐसा कोई वायदा नहीं करता है, उसी प्रकार वह ग्रामीण पूँजीपति वर्ग से भी ऐसा कोई वायदा नहीं करता। लेखक महोदय ने जानबूझकर यहाँ एक अविभेदीकृत किसान आबादी की बात की है और सिर्फ किसानों से वायदा किया है और यह नहीं बताया है कि वह किस किसान की बात कर रहे हैं।

दूसरी बात, यह 'वास्तविक किसान' या 'real peasant' क्या होता है? यदि उनका मतलब उन लोगों से है जो कि वास्तव में खेतों में उत्पादन करते हैं, तो वे खेतिहर मज़दूरों व ग़रीब किसानों की बात कर रहे हैं, जिनके लिए मार्क्स 'वास्तविक उत्पादक' (real producers) शब्द का इस्तेमाल करते हैं, न कि 'वास्तविक किसान' का, जो कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से एक अर्थहीन शब्द है। और अगर लेखक महोदय खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों की ही बात कर रहे हैं, तो लाभकारी मूल्य के समर्थन का कोई तुक ही नहीं बनता है क्योंकि वह खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों के विरुद्ध ही जाता है। अगर लेखक महोदय का अर्थ 'वास्तविक किसान' से उजरती श्रम का शोषण न करने वाले सीमान्त, छोटे और निम्न मंझोले किसान हैं, तो यह कहना होगा कि उनके लिए 'ग़रीब व निम्न मंझोला किसान' ही सही शब्द है क्योंकि धनी किसान भी कोई कम किसान नहीं होते क्योंकि 'किसान' शब्द के अर्थ या परिभाषा में अनिवार्यत: भौतिक शारीरिक श्रम करना शामिल नहीं है। वह ग़रीब मेहनतकश किसान की परिभाषा में शामिल है, लेकिन आम तौर पर किसान आबादी में धनी व उच्च मध्यम पूँजीवादी किसान आबादी भी शामिल है (और वह कोई 'अवास्तविक किसान' नहीं है!) और ग़रीब मेहनतकश किसान भी। अगर लेखक का अर्थ है कि पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामियों से अलग समस्त किसान समुदाय जिसमें कि धनी व उच्च मध्यम किसानों समेत सीमान्त, छोटे व निम्न मंझोले किसान भी शामिल हैं, तो यह कहना होगा कि कोई भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्यक्ति ऐसा वर्गेतर श्रेणीकरण नहीं करेगा, क्योंकि धनी व उच्च-मध्यम पूँजीवादी फार्मर उजरती श्रम का शोषक है और समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में शत्रु वर्ग है, जबकि ग़रीब मेहनतकश किसान क्रान्ति का मित्र वर्ग है। यह भी मार्क्सवाद का 'क ख ग' है, जिससे हमारे लेखक महोदय वाकिफ़

नहीं हैं। दरअसल, हमारे लेखक महोदय ने 'वास्तविक किसान' की अर्थहीन संज्ञा का इस्तेमाल ही अपने अवसरवाद को छिपाने के लिए किया है।

साथ ही, पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत किसानों के किसी भी हिस्से से सामूहिक या सहकारी फार्म बनाने का आह्वान ही एक मूर्खतापूर्ण और टटपुंजिया आह्वान है। पहली बात तो यह कि धनी व उच्च मध्यम किसान तो समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा राज्यसत्ता की मौजूदगी में भी एक वर्ग के तौर पर सामूहिक फार्म बनाने पर स्वेच्छा से तैयार नहीं होंगे, पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत उनसे ऐसी उम्मीद करना ही शुद्ध किहोतेवाद है। दूसरी बात, पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत अगर ग़रीब और निम्न-मँझोले किसान भी कोई सामूहिक फ़ार्म या सहकारी फ़ार्म जैसी संस्था बना लें (क्योंकि धनी किसान इसके लिए कभी न तो तैयार होंगे और न ही उन्हें इसकी कोई आवश्यकता है), तो भी पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर वह एक सामूहिक पूँजीपति (collective capitalist) ही बन सकते हैं और उनके भीतर असमानताएँ और वर्ग अन्तरविरोध पनपेंगे और ऐसी सारी संस्थाएँ अन्तत: एक छोटे वर्चस्वकारी समूह के मातहत हो जाती हैं, और उनके बाकी सदस्य या तो कनिष्ठ शेयरहोल्डर बन जाते हैं या उनके उजरती श्रमिक। वजह यह है कि ऐसे सभी कलेक्टिव्स और कोऑपरेटिव्स को पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर पूँजीवादी बाज़ार में ही प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है, प्रतिस्पर्द्धी बने रहना होता है, और इसके लिए उजरती श्रम का शोषण करते हुए उसी प्रकार अस्तित्वमान व सक्रिय होना होता है, जिस प्रकार बाज़ार में अन्य पूँजियां सक्रिय होती हैं। पूरी दुनिया में इसके कई उदाहरण मौजूद हैं। यह भी पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतागण की मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की शून्य समझ और शेखचिल्ली वाद को दिखलाता है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर धनी किसानों समेत सभी किसानों से सामूहिक फ़ार्म बनाने की अपील कर रहे हैं, जिनको अपने नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति करने के बाद वह निःशुल्क बीज, ट्रैक्टर, खाद आदि देंगे! मतलब, किहोतेवाद की इन्तहा है!

तीसरी बात, किसान कोई एक वर्ग नहीं होता बल्कि एक वर्ग-विभाजित समुदाय होता है, जिसमें धनी किसानों के हित किसी भी सूरत में (संकट या बरबादी की स्थिति में भी!) एक वर्ग के तौर पर समाजवाद और सर्वहारा वर्ग के खिलाफ़ ही जाते हैं, और उनसे उचित दाम जैसा भ्रामक वायदा करना सर्वहारा वर्ग से ग़द्दारी के समान है। समाजवाद के अन्तर्गत उचित दाम खेती के सामूहिकीकरण से पहले और व्यक्तिगत किसान अर्थव्यवस्था की मौजूदगी के दौरान भी सामाजिक श्रम के मूल्यांकन के आधार पर होता है, न कि वह व्यापक लागत पर 40 से 50 प्रतिशत मुनाफ़ा सुनिश्चित करता है, जैसा कि सोवियत संघ के उदाहरण से हम आगे दिखलायेंगे, जिसके बारे में हमारे लेखक महोदय घनघोर कुत्साप्रचार करते हैं।

बहरहाल, जैसा कि हम देख सकते हैं कि लेखक महोदय यह नारा देते हैं कि समाजवादी राज्य किसानों को उनके पूरे उपज की उचित दाम पर सरकारी खरीद की गारंटी करेगा! अपने इस उचित को परिभाषित किये बिना वह बड़ी चालाकी से मुनाफ़े में हिस्सेदारी की बात को गायब कर पतले रास्ते से निकल जाते हैं! पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय यह नहीं बताते कि क्या उनके नेतृत्व में समाजवादी व्यवस्था में यह उचित दाम लागत से 40-50 प्रतिशत ज़्यादा मुनाफ़े पर तय होगा जैसा कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था में किसानों को मिलता है? यह है पीआरसी सीपीआई (एमएल) की मौक़ापरस्ती जिसकी हम बात कर रहे हैं। यह एक अवसरवादी लोकरंजकतावाद है और हमारे लेखक महोदय 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो' की तर्ज़ पर धनी किसानों को मूर्ख बनाकर अपने साथ लेने की फ़िराक़ में हैं! बस दिक़्क़त यह है कि इस प्रकार की फ़िराक़ में उनसे ज़्यादा बड़े खिलाड़ी इस समय धनी किसान आन्दोलन के मंच पर हैं, जैसे कि नरोदवादी कम्युनिस्ट, कौमवादी, वामपंथी लोकरंजकतावादी आदि और इस वजह से पीआरसी सीपीआई (एमएल) के हमारे लेखक महोदय चाहे समाजवाद के सिद्धान्त और इतिहास से कितना भी दुराचार कर लें, उन्हें इस मंच के कोने पर लटकने की जगह भी नहीं मिलेगी!

अब आते हैं इस प्रश्न पर कि सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में कृषि प्रश्न व किसान प्रश्न पर बोल्शेविक रणनीति और कार्यनीति क्या रही थी और किस प्रकार पीआरसी सीपीआई (एमएल) अपने अवसरवाद को छिपाने के लिए उसके इतिहास से बदतमीज़ी पर आमादा हो जाती है। इसलिए यहाँ संक्षेप में इस पर चर्चा ज़रूरी है कि सोवियत समाजवादी राज्यसत्ता की किसानों के प्रति नीति क्या थी।

पहली बात, अक्तूबर क्रान्ति के तुरन्त बाद जो भूमि आज्ञप्ति आयी, उसने ज़मीन का राष्ट्रीकरण किया और श्रम सिद्धान्त या उपभोग सिद्धान्त या फिर दोनों के मिश्रण के आधार पर ज़मीन के प्लॉट भोगाधिकार के आधार पर देने का प्रावधान किया। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस क़ानून ने उजरती श्रम के शोषण पर पूर्णत: रोक लगा दी। यानी हर किसान अपने और अपने परिवार के श्रम से ही खेती कर सकता था। क्या पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय कुलकों से अपने रूमानी वायदे करते समय उनको यह बताने की कृपा भी करेंगे कि जब उनके नेतृत्व में समाजवादी सत्ता आयेगी तो अगर तात्कालिक तौर पर रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार भी करने पड़े तो ज़मीन का राष्ट्रीकरण किया जायेगा और उजरती श्रम के शोषण पर पाबन्दी लगा दी जायेगी? अगर वह कुलकों के आन्दोलन पर सवार होकर समाजवादी क्रान्ति करना चाहते हैं, तो उन्हें यह भी बताना ही चाहिए और अगर वे नहीं बताते तो वे लोकरंजकतावाद में बहकर निकृष्ट कोटि का अवसरवाद और बेईमानी कर रहे हैं। और अगर वे ऐसा बताने का कष्ट करेंगे तो पंजाब और हरियाणा

के धनी किसानों के लट्ठ वर्ग शक्ति सन्तुलन और वर्ग दृष्टिकोण के बारे में उनके ज्ञान-चक्षु तत्काल ही खोल देंगे!

दूसरी बात, गृहयुद्ध के दौरान (जो कि क्रान्ति के आठ माह बाद ही शुरू हो गया था) धनी और उच्च मध्यम किसान जब अनाज की जमाख़ोरी कर रहे थे और श्वेत सेनाओं के विरुद्ध लड़ रहे लाल सैनिक और शहरों में मज़दूर और गाँवों के ग़रीब किसान व खेतिहर मज़दूर अकाल का सामना कर रहे थे, तो सोवियत सत्ता ने धनी किसानों और कुलकों से जबरन अनाज वसूली (requisitioning) की व्यवस्था लागू की जिसमें हर धनी किसान-कुलक के पास से उसकी परिवार की आवश्यकता के अतिरिक्त बचने वाला सारा बेशी अनाज ले लिया जाता था। इस सच्चाई को भी पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय कुलकों को नहीं बताते! जबरन वसूली के इस कार्य को अंजाम देने के लिए लेनिन के आह्वान पर ग़रीब किसान समितियों का गठन किया गया। लेकिन ग़रीब किसान समितियों का काम पार्टी के पूरी तरह नियंत्रण में नहीं रहा, इसलिए उसके हमलों के निशाने पर मध्यम किसान भी आ गये, जो कि अक्तूबर 1917 के भूमि सुधार के बाद कुल किसान आबादी में बहुसंख्या बन चुके थे। नतीजतन, मज़दूरों का मध्यम किसानों से संश्रय टूटने लगा जो कि सोवियत सत्ता के अस्तित्व के लिए नुकसानदेह था। 1920-21 आते-आते यह स्थिति ख़तरनाक हो गयी और इसके नतीजे के तौर पर लेनिन ने किसानों से उत्पाद-कर (tax-in-kind) लेने की नीति को अपनाया जो कि दसवीं कांग्रेस (1921) में पारित 'नयी आर्थिक नीति' (NEP) का ही एक अंग थी।

तीसरी बात, नयी आर्थिक नीति (1921 से 1929 तक) के तहत उत्पाद-कर नीति यह थी कि किसान एक तय उत्पाद कर देने के बाद, बाकी बचे उत्पाद को मुक्त बाज़ार में बेच सकते थे। यह उन नयी आर्थिक नीतियों का ही एक हिस्सा था, जिसे लेनिन ने रणनीतिक तौर पर क़दम पीछे हटाना (strategic retreat) कहा था। इसके तहत गाँव और शहर तथा कृषि और उद्योग के बीच विनिमय को राज्यसत्ता ने संचालित किया और उसके लिए राष्ट्रीकृत उद्योगों को भी मुक्त बाज़ार में कृषि उत्पाद के साथ विनिमय करने को कहा गया। उजरती श्रम को भी सीमित तौर पर छूट दी गयी। इसके कारण कुछ ही समय में कुलकों और व्यापारियों और कालाबाज़ारियों का एक वर्ग भी पैदा हुआ। सरकार भी उत्पाद-कर लेने के बाद बाज़ार से अतिरिक्त ख़रीद करती थी और वह भी बाज़ार क़ीमतों पर ही करती थी, न कि किसी भी प्रकार के सरकारी लाभकारी मूल्य पर। इन नये कुलक व व्यापारी वर्गों के सुदृढ़ीकरण और रणनीतिक तौर पर कदम पीछे हटाने का दौर ज़रूरत से ज्यादा लम्बा चलने के कारण 1926 के बाद से ही सोवियत संघ में आर्थिक संकट का एक दौर शुरू हुआ जो खेती व उद्योग के उत्पादों की बाज़ार क़ीमतों में सही अनुपात की अनुपस्थिति में अपने आप को बार-बार अभिव्यक्त करता रहा। वहीं 1928-29 आते-आते कुलकों व धनी किसानों तथा व्यापारियों द्वारा की जा रही जमाख़ोरी और कालाबाज़ारी के कारण शहरों में अकाल जैसी स्थितियाँ पैदा हुईं। इसी दौर में स्तालिन ने कहा था:

इस वर्ष (1928) की पहली जनवरी को पिछले वर्ष के मुक़ाबले 128 मिलियन पूड अनाज की कमी थी... इस कमी को पूरा करने के लिए क्या किया जाना चाहिए था? सबसे पहले कुलको और सट्टेबाज़ों पर कड़ी चोट करना ज़रूरी था... दूसरे, अनाज वाले इलाक़ों में अधिकतम मात्रा में मालों को पहुँचाने की ज़रूरत थी।

इसी के जवाब में स्तालिन ने पहले 1929 में आपातकालीन कदमों और फिर 1930 से सामूहिकीकरण की नीति की शुरुआत की। पूरी धनी किसान व कुलक आबादी सामूहिकीकरण की इस प्रक्रिया के ख़िलाफ़ खड़ी थी। यह प्रक्रिया ग़रीब किसानों और मँझोले किसानों को साथ लेकर पूरी की गयी। निश्चित तौर पर, उच्च मध्यम किसानों के भी एक हिस्से ने भी इसमें सोवियत सत्ता का विरोध किया। बहरहाल, सामूहिकीकरण के तहत कुलकों का एक वर्ग के तौर पर ख़ात्मा किया गया और खेती में निजी सम्पत्ति का पूर्ण रूप से ख़ात्मा कर दिया गया। आज जब पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय यह कहते हैं कि सामूहिक फ़ार्म के गठन के पक्ष में कुलकों को भी लाया जायेगा, तो उन्हें इतिहास से कुछ सबक लेने की ज़रूरत है। क्योंकि समाजवादी क्रान्ति के बाद सामूहिकीकरण की प्रक्रिया के ज़रिये कुलकों का एक वर्ग के रूप में ख़ात्मा कर दिया जायेगा। दरअसल, सामूहिकीकरण के लिए भारत जैसे देशों में समाजवादी सत्ता को इतना इन्तज़ार भी नहीं करना पड़ेगा क्योंकि 1917 के रूस की तुलना में भारत में वर्गों का शक्ति सन्तुलन आज बिल्कुल ही बदल चुका है। 26.3 करोड़ खेतिहर आबादी में खेतिहर मज़दूर और ग़रीब किसान 25 करोड़ के क़रीब बैठते हैं और इसके अलावा क़रीब 60 करोड़ की शहरी सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी है, जो सीधे-सीधे राष्ट्रीकरण और सामूहिकीकरण के पक्ष में खड़ी की जा सकती है। कुलकों-धनी किसानों के खेतों को ज़ब्त किया जायेगा। जो ग़रीब और निम्न-मँझोले किसान सामूहिकीकरण के लिए तैयार नहीं होंगे उनके साथ सर्वहारा सत्ता कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करेगी और उन्हें अपने अनुभव से सामूहिक व राजकीय फ़ार्मों में अपने वर्ग हित और बेहतरी को समझने देगी और उन्हें मिसाल देकर समझायेगी; लेकिन उजरती श्रम के शोषण पर पूर्ण रोक होगी। और इन सभी क़दमों के लिए रूस में सर्वहारा सत्ता को जितने समझौते करने पड़े थे, भारत की समाजवादी क्रान्ति में और आम तौर पर इक्कीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों में उतने समझौते करने की कोई आवश्यकता या कारण नहीं होगा। धनी किसानों-कुलकों के छोटे से वर्ग के फ़ार्मों को सामूहिक व राजकीय फार्मों में तब्दील करने का काम कहीं अधिक सहजता के साथ अंजाम दिया जा सकेगा। पीआरसी सीपीआई (एमएल) ये सारी सच्चाइयाँ छिपा

जाता है और बस आनन-फ़ानन में कुलकों-धनी किसानों की गोद में बैठने के लिए उचित दाम का भ्रामक जुमला उछालता है। यदि वह समाजवादी व्यवस्था के बारे में ये सारी सच्चाइयाँ मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के समक्ष रखेंगे, तो धनी किसानों व कुलकों की प्रतिक्रिया क्या होगी, यह उन्हें खुद जाकर जाँच लेनी चाहिए! यह सुझाव हम इस उम्मीद के साथ दे रहे हैं कि कई बार सिर पर ज़ोरदार प्रहार से खोयी हुई स्मृति वापस आ जाती है!

अब देखते हैं कि क्या सामूहिकीकरण के बाद राज्यसत्ता सामूहिक फार्मों को कोई लाभकारी मूल्य देती थी?

सामूहिकीकरण होने के बाद (यानी 1936-37 के तत्काल बाद) सामूहिक फ़ार्मों के 90 प्रतिशत उत्पाद को राज्य ख़रीदता था। सामूहिक फार्मों द्वारा अपने उपयोग हेतु रख लिये जाने के बाद बाकी बचे उत्पाद के एक बड़े हिस्से (63 प्रतिशत) को राज्य लागत से बहुत कम ऊपर दर पर ख़रीदता था, जिसे ख़रीद दाम (procurement price) कहा जाता था, जबकि बाकी बचे हिस्से (27 प्रतिशत) को बिकवाली दाम (purchase price) पर ख़रीदा जाता था, जो इस प्रकार तय होता था कि सारा विभेदक लगान (differential rent) राज्य के पास जाता था। दरअसल, सामूहिक फ़ार्म के किसानों को जो दाम प्राप्त होता था, वह मूलत: सामाजिक श्रम के आकलन पर निर्धारित होता था। बाकी बचा दस प्रतिशत हिस्सा सामूहिक फ़ार्म मार्केट में बाज़ार क़ीमत पर बिकता था। (इस पूरे विवरण के लिए देखें: मॉरिस डॉब की पुस्तक 'Soviet Economic Development Since 1917'।) सोवियत सत्ता द्वारा दिया जाने वाला ख़रीद दाम या बिकवाली दाम कोई लाभकारी मूल्य नहीं था, जो कि व्यापक लागत के ऊपर 40 से 50 फीसदी का मुनाफ़ा दे! दूसरी अहम बात यह है कि यह व्यक्तिगत किसानों को नहीं दिया जाता था, बल्कि सामूहिक फ़ार्मों को दिया जाता था; तीसरे, उजरती श्रम का खेती में कोई अस्तित्व नहीं रह गया था और उस पर पूर्ण प्रतिबन्ध था। इसके अलावा राजकीय फ़ार्म थे जिनके समूचे उत्पाद का स्वामी सर्वहारा राज्य था और साथ ही राष्ट्रीकृत उद्योग थे, जिसके समूचे उत्पाद का स्वामी भी सर्वहारा राज्य था। चौथी बात, सोवियत राज्यसत्ता सारी उपज नहीं ख़रीदती थी और न ही यह कोई सैद्धान्तिक मसला है। सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा सोवियत समाजवाद के दौरान उपज की ख़रीद का अनुपात बदलता रहता था, जो कि कुल आर्थिक नियोजन से तय होता था। जब तक खेती का पूर्ण राजकीयकरण नहीं हो जाता, यानी सामूहिक खेती से राजकीय खेती की यात्रा पूरी नहीं हो जाती, तब तक बाज़ार की मौजूदगी लाज़िमी है और उपज का कुछ हिस्सा उस बाज़ार में बिकना भी लाज़िमी है। या तो पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतृत्व ने सोवियत समाजवादी संक्रमण के इतिहास का ढंग से अध्ययन नहीं किया है और या फिर वह जानबूझकर उसका विकृतिकरण कर रहा है, क्योंकि उसे किसी भी क़ीमत पर धनी किसानों-कुलकों की पूँछ में कंघी करनी है!

क्या पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय सोवियत समाजवाद की खेती नीति व किसान नीति के बारे में यह पूरा सत्य बतायेंगे, या फिर उचित दाम देने का झूठा और भ्रामक वायदा करने की घटिया दर्जे की टुटपुँजिया मौक़ापरस्ती ही करते रहेंगे?

सच यह है कि इस पूरे दौर में कभी भी न तो लेनिन ने और न ही स्तालिन ने कुलकों के साथ समझौते की नीति अपनायी। केवल नयी आर्थिक नीति के दौर में सर्वहारा सत्ता के अस्तित्व को बचाने की मजबूरी के चलते बेहद सीमित अर्थों में पूँजीवादी मुनाफ़े की आज़ादी किसानों के एक हिस्से को दी गयी और उस समय भी उसका पूरा विनियमन किया गया। और ऐसे किसी दौर की इक्कीसवीं सदी के समाजवादी प्रयोगों में शायद ही कोई आवश्यकता पड़े क्योंकि समूचा वर्ग शक्ति सन्तुलन बदल चुका है।

निष्कर्ष

सच्चाई यह है कि सोवियत समाजवाद के दौर में भी और आज भी मज़दूर वर्ग व ग़रीब मेहनतकश किसानों के साथ कुलक या पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा साथ नहीं आ सकता और न ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में उनके बीच कुछ साझा हो सकता है। अगर पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय धनी किसान-कुलक आन्दोलन की गोद में बैठकर समाजवादी क्रान्ति तक जाने के लिए मचल ही गये हैं, तो कम से कम उन्हें अपने वर्ग मित्र कुलकों-धनी किसानों से तो समाजवादी व्यवस्था के बारे में पूरा सच बोलना चाहिए!

झूठ और मक्कारी भरे कुतर्क की आड़ में पीआरसी सीपीआई (एमएल) की मज़दूर वर्ग-विरोधी अवस्थिति छिप नहीं सकी है! सच यह है कि पीआरसी सीपीआई (एमएल) का नेतृत्व मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन की गोद में बैठने की ख़ातिर तरह-तरह के राजनीतिक द्रविड़ प्राणायाम कर रहा है, तथ्यों को तोड़-मरोड़ रहा है, गोलमोल बातें कर रहा है, समाजवाद के सिद्धान्त और इतिहास का विकृतिकरण कर रहा है और अवसरवादी लोकरंजकतावाद में बह रहा है। लेकिन इस क़वायद के बावजूद, वह कोई सुसंगत तर्क नहीं पेश कर पा रहा है और लाभकारी मूल्य के सवाल पर गोलमोल अवस्थिति अपनाने और उसे सार्वजनिक वितरण प्रणाली से जोड़ने से लेकर सामान्य पूँजीवादी खेती और कॉरपोरेट पूँजीवादी खेती की छद्म श्रेणियाँ बनाकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद का विकृतिकरण करने तक, सोवियत समाजवाद के बारे में झूठ बोलने और उचित दाम का भ्रामक नारा उठाने से लेकर तमाम झूठों और मूर्खताओं का अम्बार लगा रहा है।

इस प्रकार के कम्युनिस्टों से आज आन्दोलन में मौजूद संजीदा काडर को विशेष तौर पर सावधान रहने की आवश्यकता है। साथ ही, कम्युनिज़्म और मार्क्सवाद में दिलचस्पी रखने वाले संजीदा युवाओं को भी इनसे विशेष तौर पर सचेत रहना चाहिए।

सामयिकी

साम्प्रदायिक-फ़ासीवादियों ने "लव जिहाद" के नाम पर फैलाये जा रहे झूठ को पहुँचाया क़ानून निर्माण तक

इन्द्रजीत

देश के पाँच राज्यों में तथाकथित लव जिहाद के विरोध के नाम पर क़ानून बनाने के ऐलान हो चुके हैं। जिन पाँच राज्यों में "लव जिहाद" के नाम पर क़ानून बनाने को लेकर देश की सियासत गरमायी हुई है वे हैं: उत्तरप्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश, असम और कर्नाटक। कहने की ज़रूरत नहीं है कि उपरोक्त पाँचों राज्यों में भारतीय जनता पार्टी की खुद की या इसके गठबन्धन से बनी सरकारें कायम हैं। उत्तरप्रदेश की योगी सरकार तो नया क़ानून ला भी चुकी है लेकिन इसने बड़े ही शातिराना ढंग से इसका नाम 'उत्तर प्रदेश विधि विरुद्ध धर्म संपरिवर्तन प्रतिषेध क़ानून - 2020' रखा है जिसमें लव जिहाद शब्द का कोई ज़िक्र तक नहीं है। हाल ही में मध्यप्रदेश सरकार भी तक़रीबन ऐसा ही क़ानून ला चुकी है। बाकी राज्य भी ऐसे क़ानून लाने के लिए कदम आगे बढ़ाने वाले हैं। धोखा देकर विवाह करने, बलात्कार और जबरन धर्म परिवर्तन जैसे जिन अपराधों की बात करके नये क़ानून लाने की बात की जा रही है उन अपराधों के ख़िलाफ़ पहले से ही पर्याप्त क़ानूनी प्रावधान मौजूद हैं। असल में भाजपाई शासन-सत्ता की मंशा कुछ और ही है। वैसे यह सवाल उठाना भी लाज़िमी है कि स्त्री विरोधी सड़ी हुई सोच के वाहक और स्त्री विरोधी अपराधियों को प्रश्रय देने वाले कब से स्त्री मुक्तिदाता हो गये हैं!? फ़ासीवादी दुष्प्रचार किस तरह से किसी झूठ को हज़ार बार बोलकर सच में बदलता है "लव जिहाद" प्रकरण इसका सटीक उदाहरण है। इसी विषय में संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार को लेकर सुप्रीमकोर्ट कोर्ट, इलाहबाद हाई कोर्ट और अब दिल्ली हाईकोर्ट के फैसलों और टिप्पणियों को भी सत्ताधारी फ़ासिस्ट कुछ भी नहीं समझ रहे हैं। तबलीगी जमात के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार और इसके अनुयायियों के दमन से लेकर डॉ कफील खान तक के मामलों में न्यायव्यवस्था की तन्द्रा तब टूटी थी जब काफ़ी पानी सिर के ऊपर से गुजर चुका था। जेलों में बन्द बहुत से निर्दोष जनवादी अधिकार कर्मियों से जुड़े मामलों में तो न्यायपालिका अब तक नहीं जगी है या सही कहा जाये तो दड़ मारे हुए है। "लव जिहाद" पर क़ानून के प्रकरण में भी यही हुआ है और हो रहा है। होना तो यह चाहिए कि न्यायपालिका झूठ के नाम पर नफ़रत फैलाने वालों का स्वतः संज्ञान ले चाहे वे सरकारों के मुखिया ही क्यों न हों, उन्हें तय सजा दे। लेकिन एक प्रक्रिया के तहत रही-सही न्यायप्रणाली को पंगु कर दिया गया है। हालाँकि इलाहबाद हाईकोर्ट और दिल्ली हाईकोर्ट के इस सम्बन्ध में आये हालिया फैसले उत्पीड़ितों की तरफ़दारी करते प्रतीत होते हैं किन्तु क्या ये अपवाद जैसे नहीं लगते? असल में तो न्याय व्यवस्था की जो हालत हो चुकी है वह किसी से भी छिप कैसे सकती है!

इस समय देश की अर्थव्यवस्था अपने भयंकरतम दौर से गुजर रही है। मोदी सरकार द्वारा देश पर लादे गये नोटबन्दी जैसे कुकर्मों के बाद से अर्थव्यवस्था अभी सम्भली भी नहीं थी कि अब कोरोना महामारी के दौर की मोदी सरकार की नाकामियों ने अर्थव्यवस्था का और भी बेड़ा गर्क कर दिया है। आर्थिक संकट की सबसे बड़ी मार देश की गरीब जनता के ऊपर पड़ रही है। लोगों के रोज़गार पर सरकारी पाटा चल रहा है, उनके तमाम तरह के हक़-अधिकार लगातार छीने जा रहे हैं, टैक्सों का पहाड़ बढ़ता जा रहा है, महँगाई कमर तोड़ रही है, युवाओं के पास रोज़गार के अवसर नहीं हैं, शिक्षा व्यवस्था को बरबाद किया जा रहा है और चिकित्सा व्यवस्था बेहाल होती जा रही है। कुल-मिलाकर जनता का जीवन नरक बना हुआ है। दूसरी ओर देश के धन्नासेठ मन्दी के इस दौर में भी तिजोरियाँ भरने में लगे हुए हैं। ऐसा होगा भी कैसे नहीं, भाजपा के चुनावी अभियानों में पूँजीपति जमात रुपयों की बोरियों के जो मुँह खोलते हैं उस पैसे को इनके हक़ में नीतियाँ बनाकर सूद समेत लौटाना भी तो है। पूँजीपतियों की लूट जारी रह सके इसके लिए भाजपा की फ़ासीवादी सरकार जनता को बाँटने और झूठे मुद्दों पर उलझाये रखने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है। और असल में संकट की यह स्थिति पूँजीवादी व्यवस्था के लिए कोई संकट न बन जाये इसीलिए जाति-मज़हब, मन्दिर-मस्जिद, गाय और लव जिहाद जैसे झूठे मुद्दों पर राजनीति की जाती है। जनता अपने जीवन की बरबादी के असल कारणों को न पहचान जाये इसीलिए उसे बरगलाकर आपस में ही सिर फुटोव्वल के लिए तैयार किया जा रहा है। लव जिहाद जैसा जुमला भी नफ़रत की राजनीति को बढ़ाने का एक हथियार मात्र ही है।

जाँच एजेन्सियों को "लव जिहाद" जैसा संगठित षड्यंत्र का कोई भी मामला नहीं मिला

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तों के लिए मुस्लिमों के ख़िलाफ़ दुष्प्रचार करने के रूप में तमाम दूसरे झूठों की तरह "लव

जिहाद" भी महत्वपूर्ण जुमला रहा है। पिछले एक दशक से भी लम्बे समय से संघ परिवार और गोदी मीडिया "लव जिहाद" का झूठ फैलाने में लगे हुए थे। लेकिन अभी तक भी इस शब्द को वैधानिक और सरकारी तौर पर मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। सबसे पहले 2007 के आस-पास कर्नाटक और केरल में "लव जिहाद" के मुद्दे को उछाला गया था और 2009 में हिन्दू जनजागरण समिति ने इस झूठ को फैलाने के लिए संगठित प्रयास शुरू किये। 2013 में "लव जिहाद" के नेरेटिव का इस्तेमाल मुजफ्फरनगर में दंगे भड़काने के लिए किया और यहाँ संघ परिवार ने वोट बैंक के ध्रुवीकरण का सफल प्रयास किया। अब तक "लव जिहाद" जनता को बाँटने का एक सफल प्रयोग साबित हो चुका था। लेकिन शुरू से ही विभिन्न जाँच एजेंसियाँ, विशेष पुलिस जाँच दल और कई न्यायलय तक "लव जिहाद" जैसे किसी संगठित षड्यंत्र को नकारते रहे हैं। केरल पुलिस के डीजीपी जैकब पुन्नोस, केरल और कर्नाटक पुलिस, उत्तरप्रदेश पुलिस की एसआईटी और तो और एनआईए (नेशनल इन्वेस्टीगेशन एजेन्सी) जैसी सुरक्षा एजेन्सी तक ने अपनी-अपनी तहकीकातों में अन्तर्धार्मिक विवाहों के मद्देनज़र "लव जिहाद" जैसे किसी भी संगठित प्रयास से इंकार किया है। 4 फ़रवरी 2020 में भाजपा सरकार के गृह मन्त्रालय से जब लव जिहाद के मामलों के विषय में पूछा गया था तो गृह राज्यमन्त्री जी. किशन रेड्डी का संसद में बयान आया था कि लव जिहाद की कोई क़ानूनी परिभाषा नहीं है तथा किसी भी केन्द्रीय जाँच एजेन्सी ने लव जिहाद का कोई मामला नहीं पाया है। इतना सब होने के बावजूद भी अब गलियों के मज़हबी शोहदों और नफरती चिण्टुओं वाली भाषा संवैधानिक पदों पर बैठे हुए लोग सरेआम बोल रहे हैं और "लव जिहाद" जैसे कोरे झूठ को सच की तरह पेश कर रहे हैं। सम्प्रदाय विशेष के ख़िलाफ़ मिथकों को यथार्थ बनाकर पेश करना हिटलर और मुसोलिनी के समय से ही फ़ासीवादियों का प्रमुख हथियार रहा है। संघ परिवार और इसकी फ़ासीवादी छत्रछाया में विकसित हुआ भाजपाई मानस "लव जिहाद" के नाम पर दो चीज़ें एक साथ करना चाहता है। पहली, लव जिहाद के झूठ के सहारे आम जनता का ध्यान जीवन से जुड़े असली मुद्दों से भटकाना, मुस्लिमों को निशाना बनाना, उनके प्रति आम गरीब हिन्दुओं के दिलों में नफ़रत का ज़हर घोलना और उन्हें प्रताड़ित करके हिन्दू हितरक्षक होने की अपनी फ़र्ज़ी छवि को चमकाना। और दूसरी, अपनी स्त्री विरोधी सोच के तहत हिन्दू महिलाओं-युवतियों की स्वतन्त्र इच्छा और जीवन साथी चुनने की आज़ादी को नकारना और इनसे महरूम करके इन्हें पूरी तरह से हिन्दुत्ववाद व पितृसत्ता की मातहती में तब्दील कर देना।

कैसे होती हैं अन्तर्धार्मिक शादियाँ?

"लव जिहाद" का झूठ चूंकि हिन्दू-मुस्लिम के बीच होने वाली शादियों के सन्दर्भ में फैलाया जाता है तो पहले इसी सन्दर्भ में बात करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम पहचान रखने वालों के बीच आमतौर पर तीन तरह से अन्तर्धार्मिक शादियाँ होती रही हैं। पहली, स्पेशल मेरिज एक्ट के तहत, जिसमें प्रेमी जोड़े में से किसी को भी अपना धर्म बदलने की ज़रूरत नहीं होती और कोर्ट में स्पेशल मेरिज एक्ट के तहत उनकी शादी हो जाती है। इसके अलावा अन्य तरह से अन्तर्धार्मिक शादियाँ होती हैं धार्मिक रीतिरिवाज़ से। धार्मिक शादियाँ चूंकि समान धर्म वालों के बीच ही हो सकती हैं इसलिए इनमें जोड़े में से किसी एक को अपना धर्म बदलना पड़ता है। इस्लाम धर्म के रीतिरिवाज़ से होने वाली शादी में युवक या युवती धर्म परिवर्तन करके इस्लाम के रीतिरिवाज से शादी करते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार होने वाली शादी में प्रेमी जोड़े में से कोई एक अपना धर्म परिवर्तन करता है और आर्यसमाज या कहीं भी हिन्दू रीति से शादी होती है। उपरोक्त तीनों ही तरह से होने वाली शादियों के हज़ारों प्रमाण आसानी से मिल जायेंगे। ये इस बात के उदाहरण होते हैं कि आमतौर धर्म जनता के जीवन में अपने आप में कोई खास मुद्दा नहीं बनता। एक साथ रहने वाले लोग नज़दीक भी आते हैं, उनके पूर्वाग्रह भी टूटते हैं और वे रोटी-बेटी के बन्धन में भी बँधते हैं। यह बेहद सामान्य प्रक्रिया है। और इससे व्यापक जनता को कोई परेशानी भी नहीं होती। परेशानी होती है केवल कुछ कट्टरपन्थियों, फ़ासीवादियों और उनके ज़हरीले प्रचार से डसे हुए लोगों को। स्पेशल मेरिज एक्ट जिसके तहत विवाह करने पर किसी को अपना धर्म नहीं बदलना पड़ता लोगों को वह थोड़ा रिस्की लगता है। क्योंकि इसमें समस्या यह होती है कि लड़के-लड़की को शादी के एक महीना पहले से ही अपनी पहचान और फ़ोटो कोर्ट में सार्वजनिक करने पड़ते हैं जिसके चलते संघी गुण्डा गिरोह और प्रेमी जोड़े की राय से असहमत परिजनों को उन्हें प्रताड़ित करने का मौका मिलता है। कहीं-कहीं परिजनों को कोई दिक्कत नहीं भी होती किन्तु वहाँ भी बजरंग दल, हिन्दू महासभा और इन्हीं जैसा कोई नफरती गिरोह युवक-युवती की जान के पीछे लगा रहता है। आमतौर पर चारों तरफ़ के दबाव से बचने का आसान रास्ता धार्मिक रीति से विवाह करना लगता है जिसमें अग्रिम तौर पर पहचान सार्वजनिक करने की ज़रूरत नहीं पड़ती और इसके बाद कोर्ट से भी शादी को रजिस्टर करा लिया जाता है।

टीना डाबी-अतहर खान, करीना कपूर-सैफ अली खान और न जाने कितने पहुँच वाले लोग तक जब "लव जिहाद" के आरोपों से नहीं बच पाये तो फ़िर साधनहीन लोगों की तो बिसात ही क्या है। ऐसे सैकड़ों मामले मिल जायेंगे जब अन्तर्धार्मिक विवाह करने के या साथ रहने के इच्छुक प्रेमी युगलों को मौत के घाट न उतार दिया गया हो। अब यदि तथाकथित लव जिहाद के नाम पर हरेक अन्तर्धार्मिक विवाह में स्थानीय प्रशासन को पहचान के साथ अर्जी देना अवश्यम्भावी बना दिया जायेगा तो प्रेमी जोड़े की पहचान सार्वजनिक होने का खतरा और भी बढ़ जायेगा। जैसा कि उत्तरप्रदेश के नये बने क़ानून के तहत दो महीने पहले स्थानीय

प्रशासन को सूचित करना होगा तथा शादी के लिए धर्मान्तरण साबित होने पर गैरज़मानती धाराओं के तहत 10 साल तक की कैद का प्रावधान होगा। कुल-मिलाकर अब जीवनसाथी चुनने के हक़ को कुचलना और भी आसान हो जायेगा और तथाकथित लव जिहाद के नाम पर बने क़ानून के तहत किसी को भी निशाने पर लेना शासन-सत्ता और फ़ासीवादी-साम्प्रदायिक गिरोहों के रहमोकरम पर होगा।

"लव जिहाद" का जुमला अल्पसंख्यकों को निशाना बनाने और जनता को बाँटने की साजिश का हिस्सा है

सच्चे मायने में लोकतान्त्रिक और जनवादी राज्यसत्ता अपने सभी नागरिकों को बराबरी का दर्जा देती है। यह अन्तर्जातीय व अन्तर्धार्मिक विवाहों को प्रोत्साहन देती है तथा इसके मार्ग में रुकावट बनने वाले लम्पट तत्त्वों को दण्डित करती है। लेकिन भारत में इसका उल्टा हो रहा है। कहने को हमारा देश एक धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र है। धर्मनिरपेक्षता का असल मतलब होता है धर्म का राजनीति और सामाजिक जीवन से पूर्ण विलगाव। लेकिन हमारे यहाँ सामाजिक जीवन को नरक बनाने के लिए धर्म का राजनीति में खुलकर इस्तेमाल होता आया है। फ़ासीवादी मोदी सरकार के राज में तो साम्प्रदायिक-फ़ासीवादी ज़हरखुरानी गिरोह को नफ़रत फैलाने और क़ानून हाथ में लेकर लिंचिंग करने का खुला लाइसेंस ही मिल गया है। एक आँकड़े के अनुसार देश में औसतन तक़रीबन 5.8 प्रतिशत अन्तर्जातीय तो केवल 2.2 प्रतिशत अन्तर्धार्मिक विवाह होते हैं। ऐसे में सोचा जा सकता है कि भाजपा और संघपरिवार इसके नाम पर वितण्डा खड़ा करके लोगों को मूर्ख ही बना रहे हैं। "लव जिहाद" के नाम पर लाये जाने वाले क़ानून न केवल अन्तर्धार्मिक विवाहों को हतोत्साहित करेंगे बल्कि फ़ासीवादी गुण्डा गिरोह के सामने शिकार के माफ़िक प्रेमी जोड़ों को फेंकने का काम भी करेंगे। इसलिए हर जनवादी और धर्मनिरपेक्ष इन्सान को फ़ासीवादी सरकार के ऐसे किसी भी षड्यंत्र का विरोध करना चाहिए जो हमारे रहे-सहे जनवादी अधिकारों में सेंध लगाता हो।

"लव जिहाद" के नाम पर चल रही ज़हरखुरानी गिरोह की फ़ासीवादी साजिशों को नाकाम करो!

"लव जिहाद" के झूठ पर टिका कोई भी क़ानून न सिर्फ़ साम्प्रदायिक नफ़रत को बढ़ावा देने वाला होगा बल्कि यह सम्प्रदाय विशेष के ख़िलाफ़ दमन के एक हथियार के समान होगा। तथाकथित लव जिहाद के नाम पर बनने वाला यह क़ानून स्त्रियों के जीवन साथी चुनने की आज़ादी के ऊपर भी हमला होगा। यही नहीं इस तरह का कोई भी क़ानून देश के संविधान द्वारा प्रदत्त हमारे सीमित जनवादी हक़ों पर भी हमला होगा। संविधान में मौजूद सीमित जनवादी हक़ों की सुरक्षा करते हुए संविधान को अधिकाधिक जनवादी बनाये जाने की लड़ाई भी हमें जुझारू तरीके से लड़नी होगी। तथाकथित लव जिहाद के नाम पर बनने वाले किसी भी क़ानून का आम जनता को सख्त विरोध करना चाहिए। इस बात की पुरजोर माँग की जानी चाहिए कि "लव जिहाद" जैसे जुमले उछालकर साम्प्रदायिक नफ़रत फैलाने वालों को कड़ी से कड़ी सजा मिले। धर्म को राजनीतिक और सामाजिक जीवन से अलग करके इसे व्यक्तिगत जीवन का मसला बनाया जाना चाहिए। दो व्यक्तियों को चाहे वे किसी भी जाति-मज़हब के हों अपने जीवन का फैसला करने का पूरा-पूरा अधिकार मिलना चाहिए। देश के युवाओं और आम जनता का यह फ़र्ज है कि झूठ और नफ़रत पर टिके "लव जिहाद" के नाम पर चलने वाले जैसे घृणित अभियान को सिरे से ख़ारिज करे।

कोविड-19 के षड्यंत्र सिद्धान्तों का संकीर्ण अनुभववाद और रहस्यवाद की परछाई

(पृष्ठ 15 का शेष)

बड़े फार्मा कंपनियों की प्रयोगशालाओं में इस वायरस को बना रहे हैं। हमारे अपढ़ मार्क्सवादी भी इन तर्कों का ज़ोर-शोर से प्रचार कर रहे हैं।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब भी वैज्ञानिकों को अपने विश्लेषणों को संशोधित करना पड़ा तो ये कोविडियट्स खुद की पीठ थपथपाते हुए कहने लगे कि वैज्ञानिकों का परीक्षण ग़लत है। कुछ देशों में मृत्यु दर के पुनरीक्षण या वायरस की उत्पत्ति की अवधारणा में संशोधन का मजाक उड़ाया गया। विज्ञान के पास सारे सवालों का जवाब नहीं होता। यही इसे धर्म से अलग करती है।

आखिरी बात यह कि जब भी कोरोना वायरस के विश्लेषण के दौरान, जब कभी भी किसी अवलोकन और विश्लेषण में गलती आई है, तब षड्यंत्र सिद्धांतों के प्रचारकों ने इसके बिना पर वैज्ञानिकों को ग़लत करार दिया है। ये षड्यंत्र सिद्धांतकार जनता के बीच मौजूद अनुभववाद और जीन व अन्य वैज्ञानिक अवधारणाओं के बारे में आधी समझ का बखूबी इस्तेमाल करते हैं। षड्यंत्र सिद्धांतों के एक संस्करण का दावा है कि कोविड-19 के टीका के माध्यम से शरीर में क्वांटम डॉट बॉट्स को प्रवेश कराया जाएगा, जो हमारे शरीर को नियंत्रित करेगा। यह एक बहुत ही मूर्खतापूर्ण धारणा है। यह उन्हीं सिद्धांतों की तरह ही है जिसमें यह कहा गया था कि भारत में नोटबंदी के बाद आने वाले 500 और 2000 के नोटों में नैनो चिप होगा, जो पैसों को ट्रैक करेगी! इसे ही अनुभववाद की छाया में आधुनिक अध्यात्मवाद का मौजूद रहने की हमारी बात को समझा जा सकता है। फाइव-जी तकनीक द्वारा वायरसों का आनुवंशिक उत्परिवर्तन (genetic mutation) और इस तरह के अन्य दावे बिल्कुल ही अव्यावहारिक हैं। लेकिन अज्ञानता की वजह से ये विचार आम जनता में प्रतिध्वनित हो जाते हैं। उसी प्रकार बुद्धिसंगत ज्ञान की कमी की भरपाई अनुभववाद हमेशा ही रहस्यमयी सिद्धांतों से करता है।

जनता को गाय के नाम पर कुत्सित राजनीति नहीं बल्कि शिक्षा-स्वास्थ्य और रोज़गार चाहिए!

9 दिसम्बर को कर्नाटक विधानसभा में 'कर्नाटक मवेशी वध रोकथाम एवं संरक्षण विधेयक-2020' पारित कर दिया गया है। भाजपा शासित राज्यों में सरकारों के पास यही काम रह गया है कि साम्प्रदायिक नफ़रत भड़काने वाले मुद्दों को लगातार हवा देते रहना और सम्प्रदाय विशेष के उत्पीड़न की नयी-नयी तरकीबें भिड़ाते रहना। हाल ही में भाजपा शासित पाँच राज्यों में तथाकथित लव जिहाद के नाम पर क़ानून बनाने की कुत्सित योजनाओं को अमली जामा पहनाने पर भी काम चल रहा है। उत्तरप्रदेश में तो परिवारों की आपसी सहमति के बाद हुए रिश्तों, जिनमें प्रथम दृष्टया ही किसी षडयन्त्र और धर्म परिवर्तन का कोई सबूत नहीं दिखता, में भी तथाकथित लव जिहाद के एंगल तलाशे जा रहे हैं। गाय के नाम पर भी तथाकथित गौरक्षक गुण्डा गिरोह की कारगुजारियों को कौन नहीं जानता। कितने ही लोगों को मोब लिंचिंग में मार दिया गया और कितनों ही को गौ तस्करी के झूठे आरोप में मार दिया गया। गुण्डा गिरोह को तो बेगुनाहों का शिकार करने की पहले ही छूट मिली हुई थी अब पुलिस-प्रशासन को भी गैरज़रूरी नफरती अभियान में लगा दिया गया है। नफरत के जिन सौदागरों पर पुलिसिया कार्रवाई होनी चाहिए पुलिस उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रही है।

एक तरफ भाजपा गौरक्षक होने का दम भरती है तो दूसरी और चुनाव के समय बूचड़खानों के बड़े व्यापारियों से मोटा चन्दा भी वसूलती है। गोआ और केरल के चुनावी वायदों में भाजपा गौमाँस के प्रबन्धन के वायदे करती है लेकिन दूसरी ओर हिन्दू बहुल राज्यों और खासकर उत्तरभारत में वोट बैंक हेतु गाय के मुद्दे को खूब भुनाती भी है। तमाम गौशालाएँ चन्दा उगाहने की मुफ़ीद जगह और गायों के भूख से मारने के अड्डे बनी हुई हैं। आये दिन हम देखते हैं कि गौरक्षण के पीछे कैसा घिनौना खेल चल रहा है।

देश के संविधान का अनुच्छेद - 21 नागरिकों को अपनी पसन्द का खाने-पीने-रहने और जीवनसाथी चुनने का अधिकार देता है लेकिन फ़ासिस्ट रंग में रंगी भाजपा को संविधान में दर्ज जनवादी हक़ों से कोई सरोकार नहीं है। लम्बे समय से रहे-सहे अधिकारों को भी जनता से छीन लेने के प्रयास हो ही रहे हैं। संवैधानिक संस्थाओं को दन्त-नख विहीन कर दिया गया है। न्यायपालिका से लेकर विभिन्न जाँच एजेन्सियों के हालात किसी से छिपे नहीं हैं। हत्यारे और दंगाई अपने सरगनाओं की छत्र-छाया में बेलगाम होकर आपराधिक कृत्यों को सरेआम अन्जाम देते घूम रहे हैं।

देश में इस समय बेरोज़गारी, ग़रीबी, महँगाई जनता की कमर तोड़ रही हैं। सरकारें जनता की बुनियादी ज़रूरतें पूरा करने में नाकाम साबित हो रही हैं। बड़े धन्नासेठों के अच्छे दिन आ चुके हैं और जनता को गाय, लव जिहाद, घर वापसी जैसे मुद्दों में उलझाये रखने की तीन तिकड़में चल रही हैं। आज भाजपा और संघ परिवार के कुत्सित फ़ासिस्टी इरादों को नेस्तनाबूद करते हुए जनता की फ़ौलादी वर्गीय एकजुटता की पहले किसी भी समय से ज़्यादा दरकार है। फ़ासिस्ट गुण्डा गिरोह के नफरती अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को मेहनतकश जनता ही एकजुट होकर काबू में कर सकती है। इसके अलावा हमारे पास कोई विकल्प भी नहीं है।

– आह्वान संवाददाता

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के स्मृति दिवस (20 नवम्बर) पर

चश्म-नम जान-ए-शोरीदा काफ़ी नहीं
तोहमत-ए-इश्क़-ए-पोशीदा काफ़ी नहीं
आज बाज़ार में पा-ब-जौलाँ चलो
दस्त-अफ़्शाँ चलो मस्त ओ रक़्साँ चलो
ख़ाक-बर-सर चलो ख़ूँ-ब-दामाँ चलो
राह तकता है सब शहर-ए-जानाँ चलो
हाकिम-ए-शहर भी मजमा-ए-आम भी
तीर-ए-इल्ज़ाम भी संग-ए-दुश्नाम भी
सुब्ह-ए-नाशाद भी रोज़-ए-नाकाम भी
उन का दम-साज़ अपने सिवा कौन है
शहर-ए-जानाँ में अब बा-सफ़ा कौन है
दस्त-ए-क़ातिल के शायाँ रहा कौन है
रख़्त-ए-दिल बाँध लो दिल-फ़िगारो चलो
फिर हमीं क़त्ल हो आयें यारो चलो

जेल में क़ैद रहने के दौरान लाहौर में फ़ैज़ को इलाज़ के लिए ताँगे मे बैठाकर दाँत के डॉक्टर के पास ले जाया जा रहा था। लोगों ने हथकड़ियाँ पहने फ़ैज़ को पहचान लिया और बहुत से लोग फ़ैज़ के ताँगे के पीछे-पीछे चल पड़े। उसके बाद फ़ैज़ ने यह नज़्म लिखी।

मेडिकल की पढ़ाई पर फ़ीस बढ़ोत्तरी के रूप में हरियाणा सरकार का बड़ा हमला

मनजीत चाहर

हरियाणा प्रदेश में मेडिकल की पढ़ाई की फ़ीस में बेतहाशा बढ़ोत्तरी कर दी गयी है। हरियाणा सरकार स्वास्थ्य व्यवस्था सुधार के नाम पर एक नयी अधिसूचना लेकर आयी है जो कुछ और नहीं बल्कि सरकार का मेडिकल की पढ़ाई पर एक बड़ा हमला है। सरकारी कॉलेजों/संस्थानों में एमबीबीएस यानी मेडिकल में स्नातक/ग्रेजुएशन की फ़ीस पहले जहाँ सालाना तक़रीबन 53,000 होती थी वहीं अब इसे बढ़ाकर 80,000 कर दिया गया है। यही नहीं इसमें हर वर्ष 10 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी भी की जायेगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक छात्र को दाखिले के समय फ़ीस के अलावा 10 लाख रुपये (घटा फ़ीस) का बांड भी भरना पड़ेगा। जैसे यदि प्रथम वर्ष के छात्र की सालाना फ़ीस होगी 80,000 रुपये तो उसे 9 लाख 20 हज़ार रुपये बांड के तौर पर भरने होंगे।

नयी नीति लागू होने के बाद मेडिकल माध्यम से ग्रेजुएशन करने वाला हरेक छात्र पढ़ाई के अपने चार सालों में 3,71,280 रुपये फ़ीस के नाम पर भरेगा तो 36,28,720 रुपये बांड के नाम पर। असल में यह बांड कुछ और नहीं बल्कि फ़ीस ही होगी। जिसके लिए छात्रों को लोन दिलवाने की "सुविधा" दी जायेगी। इस लोन को एजुकेशन लोन की ही श्रेणी में परिभाषित किया गया है। कुलमिलाकर प्रत्येक छात्र की सालाना फ़ीस कम से कम 10 लाख रुपये कर दी गयी है। छात्रावास या रहने-खाने और किताबों व पढ़ाई से जुड़ा अन्य खर्च इन 10 लाख के अतिरिक्त होगा। कहना नहीं होगा कि सरकार का यह क़दम मेडिकल की पढ़ाई के इच्छुक छात्रों के सपनों को पैरों तले रोंदना होगा। यही नहीं यह निःशुल्क चिकित्सा के हक़ को तो छोड़ ही दीजिए जनता के सस्ते दवा-इलाज तक पर बड़ा हमला होगा।

मेडिकल, इंजीनियरिंग और मैनेजमेन्ट जैसे विषय पहले ही व्यापक गरीब आबादी की पहुँच से बाहर हो चुके थे। अब तो कोई आम मध्यवर्ग का होनहार भी इन क्षेत्रों में जाने का सपना नहीं देख सकता है। सरकार का शिक्षा को महँगा करने का यह क़दम ग़रीब विरोधी है और शिक्षा के अधिकार पर सीधे तौर पर हमला है। निःशुल्क शिक्षा के किसी जुझारू जनान्दोलन की अनुपस्थिति में सरकार मनमाने ढंग से शिक्षा को बिकाऊ माल बनाने पर तुली हुई है। भाजपा-जजपा की ठगबन्धन सरकार यदि मेडिकल छात्रों/डॉक्टरों के निजी स्वास्थ्य सेवाओं में जाने से इतना ही ख़फ़ा है और इसे गलत मानती है तो फ़िर निजी स्वास्थ्य संस्थानों को सरकारी संस्थानों में क्यों नहीं सहयोजित कर लिया जाता। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। लेकिन सरकार ऐसा कदापि नहीं करेगी क्योंकि इनकी नस्ल के तमाम नेता-मन्त्री अपना स्वयं का इलाज तो प्राइवेट होटल नुमा आलीशान अस्पतालों में ही कराते हैं। बस सरकारी अस्पतालों में धक्के खाने के लिए तो जनता ही अभिशप्त है।

हरियाणा सरकार का कहना है कि मेडिकल के छात्र सस्ती सरकारी शिक्षा हासिल करके प्राइवेट सेक्टर की ओर रुख कर लेते हैं। छात्रों के पलायन को रोकने के लिए फ़ीस बढ़ाने और बांड में बाँधने के टोटके की आजमाइश की गयी है। सरकार का कहना है कि जो छात्र सरकारी चिकित्सा सेवाओं को ज्वाइन करेंगे उनका ऋण या बांड वह खुद चुकायेगी इस शर्त पर कि छात्र 7 साल तक सरकारी चिकित्सा सेवाओं में कार्य करे। लेकिन सरकार इस बात की कोई गारण्टी नहीं देती कि प्रत्येक एमबीबीएस उत्तीर्ण को सरकार नौकरी दे ही देगी। हरियाणा में हर साल तक़रीबन 1,400 मेडिकल छात्र पास होते हैं तथा रोज़गार की तलाश में निकलते हैं। सरकारी अस्पतालों में बमुश्किल 200-300 की ही भर्ती की जाती है। अब ऐसे में भला सभी छात्र सरकारी सेवाओं में कैसे समायोजित हो सकते हैं। गरीब पृष्ठभूमि जो छात्र सरकारी सेवाओं में चाहकर भी नहीं जा सकेंगे वे मूलधन को तो छोड़ ही दीजिए पढ़ाई पर खर्च हुए 40 लाख रुपये का ब्याज भी कैसे चुका पायेंगे? फ़िर या तो उन्हें भव्य प्राइवेट अस्पतालों की शरण में जाकर मरीजों की जेबें काटनी पड़ेंगी या फ़िर मेडिकल की पढ़ाई से ही तौबा करनी पड़ेगी। 50-60 लाख खर्च करके चिकित्सा की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्रों को अपने ज़मीर के साथ समझौता करके सफ़ेद लिबास में डाकू बनने के लिए मज़बूर किया जायेगा और ऐसे हालात में इनमें से बहुत से खुद ही ताउम्र डिप्रेशन में रहेंगे। और इसकी ज़िम्मेदारी सीधे तौर पर सरकार पर ही होगी। हरियाणा में मेडिकल सेवाएँ ख़स्ताहाल हैं। तमाम भर्तियाँ एडहोक आधार पर की जा रही हैं। डॉक्टरों की संख्या भी ज़रूरत से काफ़ी कम है। मौजूद स्टाफ़ पर बेतहाशा दबाव रहता है। इसके बावजूद भी सरकार भर्ती के प्रति उदासीन है तथा फ़ीस बढ़ोत्तरी का ठीकरा भी पलायन का बहाना बनाकर मेडिकल के छात्रों और डॉक्टरों पर ही फोड़ना चाहती है।

खट्टर सरकार के इस जनविरोधी कदम का कड़ा प्रतिकार किया जाना चाहिए। निःशुल्क चिकित्सा सेवा का अधिकार जनता का बुनियादी अधिकार है किन्तु सरकारें इस हक़ को ऐसे ही नहीं देने वाली हैं। मेडिकल छात्रों की फ़ीस बढ़ोत्तरी चिकित्सा सेवा को बाज़ार के हवाले करने का ही एक नया प्रयास है। व्यापक जनान्दोलन के बूते ही सरकार को ऐसे जनविरोधी फैसलों को वापस करवाया जा सकता है और चिकित्सा के हक़ को हासिल किया जा सकता है।

शिक्षा-जगत

सरकारी शिक्षा पर चौतरफ़ा संकट के बादल

प्रवीन

हर किसी के जीवन में शिक्षा की एक अहम भूमिका होती है। जीवन को उच्चतम धरातल पर ले जाने में शिक्षा की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। शिक्षा के बिना हर कोई अपने आप को अधूरा-सा महसूस करता है। वैसे तो बच्चे की पहली पाठशाला उसका घर होता है लेकिन अक्सर यह देखा जाता है कि उसको अक्षर ज्ञान किसी स्कूल में जाने से ही प्राप्त होता है। स्कूल किसी बच्चे को केवल अक्षर ज्ञान ही नहीं देता बल्कि बहुत सारी दूसरी चीज़ों से भी ओत-प्रोत करता है जो उसके आने वाले जीवन में बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। इसलिए किसी भी बच्चे को स्कूली जीवन जीना आवश्यक ही नहीं बल्कि बेहद ज़रूरी माना जाता है।

लेकिन हमारे देश की स्कूली शिक्षा का हाल लगभग 73 साल

की "आज़ादी" के बाद बहुत बुरा हो चुका है। पूरे देश की बात की जाए तो बच्चों की एक बहुत बड़ी आबादी (ख़ास कर मज़दूरों के बच्चों की) स्कूली शिक्षा हासिल करनी तो दूर स्कूल में प्रवेश भी नहीं कर पाती। क्योंकि बच्चे स्कूल तभी जा सकते हैं जब उनके माता-पिता के पास रहने के लिए कोई स्थाई घर होगा। लेकिन भारत सरकार के ही एक आँकडे के अनुसार देश की लगभग 30 करोड़ आबादी या तो फुटपाथ पर रहती है या फिर झुग्गी-झोंपड़ियों में रहती है। अब आप ख़ुद ही अंदाज़ा लगा सकते हैं कि इस प्रकार से रहने वाले लोग अपने बच्चों को किस तरह स्कूल भेज पाते होंगे। देखा जाए तो जो लोग अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजते भी हैं उनमे से भी बहुत बड़ी संख्या में घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण अपने बच्चों को 12वीं से पहले ही स्कूल से हटा कर काम की तलाश में कहीं भेज देते हैं ताकि कैसे भी करके घर-परिवार का गुज़ारा चल सके। आज ज़्यादातर सरकारी स्कूलों में मज़दूर व दलित परिवारों के बच्चे ही पढ़ने जाते हैं। आँकड़ों से चलें तो लगभग दलित आबादी के 92 प्रतिशत बच्चे 12वीं से पहले ही स्कूल से बाहर हो जाते हैं। उनके स्कूल से बाहर होने का कारण पढ़ाई में मन लगना नहीं बल्कि घर का गुज़ारा करने के लिए कहीं काम-धंधे की तलाश में जाना होता है। लेकिन सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इस आबादी को दिन-प्रतिदिन सरकारी स्कूली शिक्षा की पहुँच से भी दूर किया जा रहा है।

हक़ीक़त यह है कि 1991 में लागू उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के बाद से प्राइवेट स्कूलों को बढ़ावा देने के लिए सत्ता में बैठी हर सरकार ने सरकारी स्कूलों को सोची-समझी साज़िश के तहत बरबाद करने का काम किया है। हम देख सकते है कि प्राइवेट स्कूलों की मन चाही लूट का हर प्रकार की आबादी शिकार है। स्कूलों के मामले में यह कहावत कितनी सटीक बैठती है कि "आगे कुआँ पीछे खाई, जनता की दोनों ओर मुसीबत आई" आप ख़ुद ही फ़ैसला कर सकते हैं। सरकारी स्कूलों के ढांचे को इस बात से भी जांचा परखा जा सकता है कि 2016 की संसद की और 11 जनवरी, 2019 की जनसत्ता की एक रिपोर्ट के मुताबिक देश में क़रीब एक लाख से ज्यादा सरकारी स्कूल ऐसे हैं जहां केवल एक ही टीचर स्कूल चला रहा है। जिसमें पहले नंबर पर मध्य प्रदेश में ऐसे स्कूलों की संख्या 17,874 है और उत्तर प्रदेश 17,602 संख्या के साथ दूसरे नंबर पर है। आज भारत में सरकारी स्कूलों के मुकाबले निजी स्कूलों की संख्या 450 गुना तेजी से बढ़ रही है। प्राइवेट स्कूलों की लूट का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि कोरोना काल के दौरान जब सभी स्कूल बंद हैं तब भी यह बिना कोई तनख़्वाह दिए अध्यापकों से काम करवाके ऑनलाइन क्लासेज़ के नाम पर जनता से मन मर्ज़ी की फ़ीस वसूलने में लगे हुए हैं। तो शिक्षा के नाम पर मुनाफ़ा कूटने का धंधा नहीं कहा जाए तो और क्या कहा जाए।

हरियाणा में गठबंधन सरकार के आने से सरकारी शिक्षा पर संकट के बादल पहले से कहीं और गहरे

वैसे तो कांग्रेस सरकार के समय भी सरकारी स्कूलों की

हालत ख़स्ता थी। लेकिन पिछले 5 साल के कार्यकाल में भाजपा ने सरकारी स्कूलों की हालत को सुधारने की बजाए और गहरे दलदल में धँसाने का काम ही किया है। कुछ आँकड़ों से समझा जा सकता है कि अपने पिछले कार्यकाल में भाजपा ने स्कूलों के मामले में क्या गुल खिलाए हैं।

सरकारी शिक्षा पर चौतरफ़ा संकट के बादल

..."बेटी-बचाओ बेटी-पढ़ाओ" की नौटंकी करने वाली खट्टर सरकार के कार्यकाल का आँकड़े बताते हैं कि उन्होंने अपने कार्यकाल में लगभग 208 सरकारी प्राथमिक स्कूल बंद किए हैं। 20 अक्टूबर 2018 की जागरण की एक रिपोर्ट के मुताबिक खट्टर सरकार द्वारा 53 स्कूलों को और बंद करने का फैसला लिया गया था। दूसरी तरफ़ इन सब के विपरीत भाजपा ने अपने ही कार्यकाल के दौरान 974 नए मान्यता प्राप्त निजी स्कूलों को खुलवाया। और तो और सबसे बड़े शर्म की बात तो यह है कि अपने पिछले कार्यकाल में खट्टर सरकार प्रदेश के सरकारी स्कूलों में नियुक्त शिक्षकों से स्कूलों में पढ़ाई करवाने की बजाए मेलों में प्रसाद बंटवाने तक का काम करवाती आई है।

खट्टर व दुष्यंत की गठबंधन सरकार पिछली नीतियों पर चलते हुए हरियाणा प्रदेश के सरकारी स्कूलों को लूट का अड्डा बनाने में तुली हुई है ताकि आने वाले समय में इनको आसानी से निजी हाथों में सौंपा जा सके। "हरियाणा प्रदेश के शिक्षा मंत्री कंवर पाल गुर्जर की माने तो हरियाणा सरकार में फिलहाल 23 अंग्रेजी मीडियम सरकारी मॉडल संस्कृति सीनियर सेकंडरी स्कूल चल रहे हैं, जबकि 108 और ऐसे स्कूल खोले जाएंगे। इन सभी 131 स्कूलों को सीबीएसई से जोड़ा जाएगा। इसी तरह 1000 मॉडल संस्कृति प्राइमरी स्कूल खोले जाएंगे।" आपको स्कूलों के नाम से ही ऐसा प्रतीत तो नहीं हो रहा कि शिक्षा के भगवाकरण की तैयारी ज़ोरों पर शुरू हो चुकी है। आपकी जानकारी के लिए बता देते हैं कि इन स्कूलों में 1 से 5वीं कक्षा के छात्रों से 500 रुपए और 6वीं से 12 वीं तक की कक्षाओं के लिए 1000 रुपए प्रवेश शुल्क लिया जाएगा। वहीं कक्षा 1 से 3 के छात्रों से 200 रुपए, कक्षा 4 और 5वीं के छात्रों से 250 रुपए, कक्षा 6 से 8 वीं के छात्रों से 300 रुपए, कक्षा 9वीं और 10वीं के छात्रों से 400 रुपए और कक्षा 11वीं और 12वीं के छात्रों से 500 रुपए तक का मासिक शुल्क लिया जाएगा। इस प्रकार से शिक्षा के नाम पर छात्रों से प्रवेश शुल्क व मासिक शुल्क वसूलना कितना उचित माना जा सकता है। क्या सरकार का इस प्रकार का क़दम शिक्षा को बिकाऊ माल में तब्दील करना नहीं कहा जाएगा? एक बहुत बड़ी आबादी जो अपना पेट भी बड़ी मुश्किल से भर पाती है क्या वह अब अपने बच्चों को इन स्कूलों में दाख़िला दिलवा पाएगी? जिस आबादी की पहुँच प्राइवेट स्कूलों तक नहीं थी वह अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेज देती थी लेकिन यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि आने वाले समय में अब उनकी पहुँच सरकारी स्कूलों तक भी नहीं होगी। वैसे तो संविधान हमें बहुत सीमित अधिकार देता है लेकिन आज उन सीमित अधिकारों को भी ताक पर रख कर हरियाणा की गठबंधन सरकार प्रदेश की मेहनतकश अवाम से शिक्षा का अधिकार भी छिनने जा रही है। यह बात शीशे की तरह साफ़ है कि हरियाणा सरकार का सोनीपत में 56 स्कूलों को गोद देने का निर्णय हो या चार हज़ार प्ले स्कूलों को चलाने के लिए प्रथम शिक्षा फ़ाउंडेशन एनजीओ के साथ समझौता हो यह सब निजीकरण की दिशा में बढ़ा हुआ एक क़दम ही है। अगर हम हरियाणा के सरकारी स्कूलों की ज़मीनी सच्चाई जाने तो वो यह है कि हरियाणा प्रदेश में 3500 सरकारी स्कूल ऐसे हैं जो बिना मुखिया के चल रहे हैं। इस समय हरियाणा के सरकारी स्कूलों में शिक्षकों के कुल 1,28,405 पदों में से 44,962 पद रिक्त हैं। जिनको सत्ता में आने वाली कोई भी सरकार भरने का नाम तक नहीं लेती। अगर सरकार को सरकारी स्कूलों की इतनी ही चिंता होती तो अब तक स्कूलों में शिक्षकों के रिक्त पदों को कब का भर दिया जाता और किसी भी स्कूल में शिक्षक व मुखिया की कोई कमी नहीं होती। लेकिन यह साफ तौर पर देखा जा सकता है कि हरियाणा सरकार की सरकारी स्कूलों को लेकर कुछ और ही मंशा है जो आने वाले समय में आइने की तरह बिलकुल साफ़ हो जाएगी।

शिक्षा व्यवस्था के ढाँचे को सही से लागू करवाने के लिए जन पहलकदमी की ज़रूरत

साथियों, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज सरकारी शिक्षा पर संकट के बादल पहले से कहीं और गहरे हो गये हैं। जिनको हटाना अपने और अपने बच्चों के भविष्य के लिए बेहद ज़रूरी है। ताकि हम आने वाले समय में अपने बच्चों को शिक्षा हासिल करवा के एक अच्छा नागरिक बनता देख सकें। हमें इस बात का पता होना चाहिए कि जनता की एकजुटता वह ताकत होती है जो सत्ता में बैठी किसी भी सरकार को झुकाने का दम रखती है। ऐसे में जो शिक्षा व्यवस्था एक इंसान को असल में इन्सान बनाने का काम करती है। उसे बचाने के लिए देश की मेहनतकश अवाम को आगे आने की ज़रूरत है। अगर आज हम सरकारी स्कूलों को बचाने का प्रयास नहीं करेंगे तो आने वाला भविष्य हमारे और हमारे बच्चों के लिए बेहद खतरनाक होगा। क्योंकि जब तक हमारे बच्चों को अच्छी शिक्षा ही नहीं मिल पाएगी तब तक हम कैसे कह सकते हैं कि वह अपने भविष्य को सुनिश्चित कर पाएंगे। आज जब देश मे हमारे शहीदों के विचारों को जन-जन तक पहुंचाने की ज़रूरत है और उनका सपना पूरा करने के लिए आगे आने की ज़रूरत है तो ऐसे में बिना शिक्षा हासिल किए वह इस काम को कैसे अंजाम दे पाएंगे। यानी वह समाज बदलाव की लड़ाई सही तरीके से कैसे आगे बढ़ा पाएंगे। आज हमें शिक्षा के पहलू को हर दृष्टिकोण से देखने की ज़रूरत है। इसलिए पूरे देश मे एक समान शिक्षा व्यवस्था लागू करवाने के लिए जन एकजुटता के साथ सत्ता में बैठी किसी भी सरकार पर दबाव बनाने की ज़रूरत है।

कश्मीर के छात्रों का चौपट होता भविष्य

प्रियंवदा

मोदी सरकार ने 5 अगस्त 2019 को अनुछेद 370 और 35ए हटाते हुए कश्मीरी आवाम से कई बड़े वायदे किए थे। जम्मू - कश्मीर के विशेष राज्य के दर्जे को समाप्त करते हुए देश के प्रधानमंत्री ने ये घोषणा की थी भाजपा सरकार के इस ऐतिहासिक कदम से कश्मीर मे बेरोज़गारी ख़त्म हो जायेगी, आतंकवाद का नामोनिशान मिट जाएगा व कश्मीर विकास के नये-नये आयाम गढ़ेगा.... मगर आज सच्चाई इसके विपरीत है। इस सरकार के बाकी वायदों के तरह ही ये वायदे भी कोरे झूठ साबित हुए हैं। वास्तविकता यह है कि आज घाटी में शांति भारतीय राज्यसत्ता द्वारा हजारों सशस्त्र बलों, चप्पे -चप्पे पर कटीले तारो व बन्दूक की नोक पर कायम की जा रही है। सिर्फ इतना ही नहीं तमाम जनवादी आवाज़ों को खामोश करके जेल भेजा जा रहा है व जनपक्षधर मीडियाकर्मियों पर यूएपीए जैसे काले क़ानून लगाए जा रहे हैं। फोन व इंटरनेट की सुविधा खत्म करके कश्मीरी आवाम को कैद मे रखा गया है, अपनी ज़रूरतों और मांगो को लेकर सड़कों पर उतरने वाले आमलोगों को पैलेट गन और गोलियां मिलती हैं।

पिछले डेढ़ सालों में घाटी की मेहनतकश आवाम की ज़िन्दगी हर दिन खौफ़ मे बीत रही है, रोज़गार, शिक्षा और यहाँ तक कि उनके जीने का बुनियादी अधिकार भी उनसे छीना जा चुका है। कश्मीर के छात्रों की ज़िन्दगी के बचे-खुचे सपने भी मोदी सरकार द्वारा उठाए गए इस कदम के साथ ही ख़त्म हो गए थे। धारा 370 हटने के बाद दूसरे राज्यों मे पढ़ाई कर रहे कश्मीरी छात्र अपने घरों में बात तक नहीं कर पा रहे थे, भाजपा सरकार द्वारा पाले-पोसे गए गुंडा तत्वों द्वारा उन्हें लगातार परेशान किया जा रहा था। दिल्ली जैसे शहर में इन छात्र-छात्राओं के लिए एक भयंकर असुरक्षा का माहौल तैयार किया गया, कई छात्रों से उनके कमरे तक खाली करवा दिये गये, सरकार के इस कदम का विरोध करने वाले तमाम छात्रों को उनके क्लास रूम से लेकर कॉलेज कैम्पस तक में डराया धमकाया जाने लगा। कई महीनों बाद अपने घर वापस लौटे इन छात्रों के लिये वहाँ का माहौल भी भयावह ही था। मार्च 2020 में शुरू हुए कोविड महामारी और फिर सरकार की बदइंतेजामी ने हालात कहीं ज्यादा बुरे कर दिये। इस दौरान शिक्षण संस्थानों में शुरू हुई ऑनलाइन क्लासेस व परीक्षाएँ कश्मीरी छात्रों के पहुँच मे नहीं थी। कश्मीर मे आज भी इंटरनेट सेवा पूरे तरीके से बहाल नहीं हुई है, कई बार तो झूठी सुरक्षा के नाम पर 2जी इंटरनेट को भी बंद कर दिया जाता है, गरीब व मध्यम वर्ग से आने वाले छात्र-छात्राओं के लिये स्मार्टफोन और वाई-फाई लेकर पढ़ाई कर पाना संभव नहीं है। बर्फबारी के समय बिजली की अनुपलब्धता भी घाटी के नौजवानों की पढ़ाई मे बाधक बनती है। बीते 21 दिसम्बर को जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय द्वारा ऑनलाइन परीक्षा की घोषणा किए जाने पर कश्मीर के छात्रों ने अपना विरोध दर्ज़ किया क्योंकि वहाँ रह रहे अधिकांश छात्रों के लिये ऑनलाइन परीक्षा के लिये ज़रूरी शर्तो को पूरा कर पाना नामुमकिन था। छात्रों के जबर्दस्त विरोध के बाद जामिया विश्वविद्यालय को अपना ये कदम पीछे लेना पड़ा।

नेहरू सरकार और उसके बाद की कांग्रेसी सरकारों ने कश्मीरी क़ौम के साथ जो धोखा शुरू किया था उसे मोदी-शाह की जोड़ी ने अपनी तार्किक परिणति पर पहुँचा दिया है और आज कश्मीर को जेलखाने में तब्दील किया जा चुका है।

कश्मीर की मौज़ूदा परिस्थितियों के साथ ही महामारी की भयावहता ने वहां छात्र आबादी को तनाव के हवाले कर दिया है। परीक्षाओं की वजह से एक बड़ी आबादी मानसिक पीड़ा का सामना कर रही है, हमने देखा कि छात्रों मे आत्महत्या की घटनाएँ आम बनती जा रही है।

जम्मू और कश्मीर के छात्रों के साथ-साथ आज देशभर की छात्र आबादी ऑनलाइन शिक्षा व्यवस्था का विरोध कर रही है। कश्मीर की छात्र आबादी के लिये शिक्षा हासिल कर पाना असंभव बनता जा रहा है। छात्र-छात्राओं को मानसिक पीड़ा व आत्महत्या के लिये मजबूर करने वाली इस शिक्षा व्यवस्था को बदलने की ज़रूरत है। आज हमारा ये कर्तव्य और दायित्व बनता है कि हम एकसमान और निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था की ज़रूरत के लिये एक व्यापक संघर्ष की शुरुआत करें।

यदि जनबल पर विश्वास है तो हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जनता की दुर्दम शक्ति ने, फ़ासिज़्म की काली घटाओं में, आशा के विद्युत का संचार किया है। वही अमोघ शक्ति हमारे भविष्य की भी गारण्टी है।

– राहुल सांकृत्यायन

सामयिकी

क्या भारत में धर्मनिरपेक्षता अब सिर्फ़ काग़ज़ पर ही है?

अरविन्द

धर्म और आस्था किसी का भी निजी मसला हो सकता है किन्तु उसमें राज्य की या उसके सत्ता प्रतिष्ठानों की किसी भी रूप में कोई दखलन्दाजी नहीं होनी चाहिए। धर्मनिरपेक्षता या सेक्युलरिज्म का असली अर्थ है धर्म और राजनीति का पूर्ण विलगाव और राज्य व सत्ता प्रतिष्ठानों की धार्मिक मसलों से सुनिश्चित दूरी। कहने के लिए भारत भी एक धर्मनिरपेक्ष देश है लेकिन हमारे यहाँ पर सत्ता की खातिर धार्मिक मुद्दों को बेतहाशा भुनाया जाता रहा है। अपवादों को छोड़कर न्याय व्यवस्था या तो किंकर्तव्यविमूढ़ होकर ताकती रही है या खुद इस प्रक्रिया में भागीदार रही है। कांग्रेस से लेकर पिछली तमाम सरकारों के कार्यकाल में भी धर्मनिरपेक्षता के असल मूल्यों को लहूलुहान किया जाता रहा था किन्तु अब भाजपा की फ़ासीवादी मोदी सरकार के राज में तो उन्हें मृत्युशैया पर ही पहुँचा दिया गया है।

अपनी बात की शुरुआत हाल की कुछ घटनाओं से करते हैं। आपको ज्ञात होगा 5 अगस्त को प्रधानमन्त्री मोदी ने "राम मन्दिर" का शिलान्यास किया था। अब इस मन्दिर निर्माण में आर्थिक योगदान या दान का "शुभारम्भ" देश के राष्ट्रपति राम नाथ कोविन्द ने 5 लाख रुपये देकर कर दिया है। इसके बाद आगे चलकर प्रधानमन्त्री ने तक़रीबन 971 करोड़ की लागत से नयी बन रही संसद की इमारत के भूमि पूजन और नींव भरने के कर्मकाण्ड को भी सकुशल निबटाया। प्रधानमन्त्री ने संसद के खर्चीले भवन को "आत्मनिर्भरता" का पर्याय बताकर इसे नये युग के श्रीगणेश की संज्ञा दी थी। लेकिन असल में यह "आत्मनिर्भरता" की नहीं बल्कि यह सेक्युलरिज्म की कब्र पर देश की संस्थाओं और प्रतीकों में साम्प्रदायिकता की घुसपैठ की नयी मंजिल है। भारतीय संसद किसी एक धर्म की बपौती नहीं है बल्कि यह देश के तमाम नागरिकों के प्रतिनिधियों का एक मंच है। यह एक अलग बात है कि संसद जनता की आवाज़ को कितना प्रतिनिधित्व देती है और असल में तो यह पूँजी की तानाशाही को ढकने के लिए एक परदे का ही काम करती है। लेकिन यह बेहद चिन्ताजनक है कि देश में जनवाद के सबसे बड़े तथाकथित प्रतीक को कैसे कूपमण्डूकता और धार्मिक पोंगापन्थ की झाँकी बनाया गया। और सुनिए विगत 4 दिसम्बर को चीफ़ ऑफ़ डिफेंस स्टाफ़ (सीडीएस) और थल सेनाध्यक्ष जनरल बिपिन रावत ने गोरखनाथ मठ से सम्बन्ध रखने वाले एक शिक्षण संस्थान के कार्यक्रम में आतिथ्य ग्रहण किया और वहाँ पर कई मूर्तियों का अनावरण भी किया। ये देश के सबसे बड़े सेना प्रमुख का हाल है! योगी सरकार तो और भी दो कदम आगे निकल गयी है। उत्तरप्रदेश लोकनिर्माण विभाग राम मन्दिर में दान के लिए एचडीएफसी बैंक, बैंक ऑफ़ बड़ौदा तथा और भी कई अन्य बैंकों में 'पी. डब्ल्यू. डी. राम मंदिर वेलफेयर' के नाम से खाते खोलने जा रहा है तथा विभाग के कमर्चारियों को अपना एक दिन का वेतन इसमें देने के लिए कहा जा रहा है।

कहना नहीं होगा कि राजनीति और धर्म के रिश्ते लगातार परवान चढ़ते जा रहे हैं। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि तथाकथित सेक्युलर पार्टी कांग्रेस भी राम मन्दिर निर्माण में राजीव गाँधी की भूमिका के गुणगान करते हुए अपनी पीठ थपथपा रही है और इसने भी लगातार नरम साम्प्रदायिक कार्ड खेला है। हिन्दुओं ही नहीं बल्कि इस्लाम, सिख, बौध, इसाई आदि आदि धर्मों के ठेकेदार भी धार्मिक पहचान के नाम पर जनता की गोलबन्दी करने में लगे रहते हैं और जनता की एकजुटता में पलीता लगाने का काम करते हैं। किसी के धार्मिक होने में कोई बुराई नहीं है लेकिन यह केवल उसके निजी जीवन तक सीमित रहना चाहिए। प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, सेनाध्यक्ष, तमाम राज्यों के मुख्यमन्त्री और सरकारी कर्मचारी निजी जीवन में जो मर्जी करें लेकिन सार्वजनिक जीवन में उन्हें धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों का निर्वहन करना चाहिए। भारत कोई धार्मिक राज्य नहीं है और संवैधानिक पदों पर बैठे लोग देश की पूरी जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

असल में भारत की धर्मनिरपेक्षता स्वयं किसी पाखण्ड से ज़्यादा कुछ भी नहीं है। आज़ादी के आन्दोलन से ही इसे सर्वधर्म समभाव के तौर पर बरता गया है जबकि सेक्युलरिज़म के ऐसे मायने हैं ही नहीं। 90 के दशक के पहले तक तथाकथित कल्याणकारी राज्य के दौर में भी साम्प्रदायिक ताकतों को लगातार खाद-पानी दिया जाता रहा। तर्क-विवेक और विज्ञान द्रोही ताकतों को लगातार फलने-फूलने का मौका दिया जाता रहा। धार्मिक मुद्दों में कभी तुष्टिकरण तो कभी खुलेआम पक्ष लेकर अवसरवादी राजनीति होती रही। राम जन्मभूमि रथ यात्रा के नाम पर अतीत में हुए तथाकथित अन्यायों को भुनाते हुए जनता का ध्यान असली मुद्दों से भटकाकर उसे मन्दिर-मस्ज़िद

की राजनीति में उलझा दिया गया। धार्मिक मुद्दों के नाम पर जनता को भड़काने का 80 के दशक का यह वही दौर था जब कल्याणकारी राज्य का मॉडल अपनी चरम परिणति को प्राप्त हो रहा था। चारों तरफ़ भ्रष्टाचार, महँगाई, बेरोज़गारी अपने पाँव पसार रही थी। इसी के मद्देनज़र ट्रिकल डाउन जैसी निर्लज्ज थ्योरी देकर एक तरफ़ उदारीकरण-निजीकरण की लुटेरी नयी आर्थिक नीतियों की नींव डाली जा रही थी तो दूसरी तरफ़ समाज में साम्प्रदायिक ताकतों को खुली छूट दी जा रही थी। मन्दिर मुद्दे पर सवार होकर मतपेटियों के माध्यम से दंगाई कैसे संसद तक पहुँच गये यह किसी से छिपा नहीं है। न्यायव्यवस्था के दन्त-नख विहीन होने की और इसमें साम्प्रदायिक तत्वों की घुसपैठ की प्रक्रिया भी कोई नयी नहीं है। यही कारण है कि देश के सामाजिक ताने-बाने को दंगों की ख़ूनी दलदल में डुबोने वाले तमाम फ़ासीवादी थोक भाव में बरी कर दिये गये और अब सर्वोच्च न्यायालय ने भी मन्दिर निर्माण को "क़ानूनी मान्यता" दे दी। आज राज्य ने फ़ासीवादी मुखौटा धारण कर लिया है और तमाम सत्ता प्रतिष्ठान सेक्युलरिज्म के मूल्यों की अर्थियाँ उठा रहे हैं।

जनता के असल मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए राजनीति का धर्म के साथ गठजोड़ करके उसका सौन्दर्यीकरण करना फ़ासीवादियों की पुरानी फ़ितरत रही है। मिथकों को यथार्थ बनाकर पेश किया जाना और लोगों को मिथकों की दुनिया में झोंकना भी इसी प्रक्रिया का हिस्सा है। जनता के सामने धर्मनिरपेक्षता को उसके सच्चे अर्थों में लागू करवाना संघर्ष का एक महत्वपूर्ण मसला है। धर्म को राजनीति में मिलाने के हरेक प्रयास का कड़ा प्रतिकार किया जाना चाहिए। धार्मिक पहचानों पर लोगों को संगठित कर रही ताकतों की असली मंशा का जनता के बीच लगातार भण्डाफोड़ किया जाते रहना चाहिए। आज हम तथाकथित सेक्युलर दलों की फ़र्जी धर्मनिरपेक्षता के भरोसे नहीं बैठे रह सकते हैं। भारत जैसे देश में जहाँ पूँजीवाद क्रान्तियों के ज़रिये नहीं आगे बढ़ा तर्कणा, जनवाद, मानववाद और सेक्युलरिज्म के मूल्यों का प्रचार-प्रसार भी जनता की जुझारू एकता स्थापित करने की प्रक्रिया का ही हिस्सा है। आज लम्बी औपनिवेशिक गुलामी से बंजर देश की बौद्धिक जमीन पर बेहद शिद्दत के साथ मेहनत करने की दरकार है।

मौजूदा किसान आन्दोलन के फ़ासीवादी दमन के विरोध में

आपको ज्ञात होगा दिल्ली की चार सीमाओं पर बड़ी संख्या में किसान बैठे हुए हैं। यहाँ किसानों का धरना 26 नवम्बर से ही जारी है। न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) को बचाने की इनकी लड़ाई से इत्तेफ़ाक न रखते हुए भी इस आन्दोलन के फ़ासीवादी दमन का कड़ा प्रतिकार किया जाना चाहिए। मौजूदा आन्दोलन असल में उद्योग-कॉर्पोरेट क्षेत्र और कृषि क्षेत्र में लगे पूँजीपति वर्ग के ही दो धड़ों की लड़ाई है बेशक इसमें भागीदारी गरीब किसानों की भी एक आबादी की है। हम मानते हैं कि मौजूदा किसान आन्दोलन का नेतृत्व असल में धनी किसानों की आर्थिक माँगों का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है तथा इसके द्वारा उठायी जा रही माँगों के पूरा होने से भी व्यापक ग़रीब किसानों और आम मेहनतकश जनता को कुछ हासिल नहीं होगा लेकिन इसके बावजूद विरोध करने के इनके जनवादी हक़ के हम पक्ष में हैं। लोगों के आन्दोलन करने के जनवादी हक़ को कुचलने के लिए केन्द्र की मोदी सरकार, हरियाणा की खट्टर सरकार और उत्तरप्रदेश की योगी सरकार अपना पूरा जोर लगा रही हैं। जनता के जम्हूरी हक़ों को कुचलने के ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाना फ़ासीवादी दमन को वैधता प्रदान करना है। जनवादी अधिकारों के हनन और फ़ासीवादी दमन तन्त्र की कार्रवाइयों का हम हर स्थिति में कड़ा प्रतिकार करने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

गोदी मीडिया लगातार इस आन्दोलन पर तरह-तरह के लेबल लगाता रहा है तथा बड़ी पूँजी के सरकारी एजेण्डे के प्रचार-प्रसार के लिए भोंपू की तरह बज रहा है। लेकिन यह भी सच है कि आन्दोलन का नेतृत्व शुरू से ही धार्मिक, जातीय और क्षेत्रीय पहचानों का अवसरवादी इस्तेमाल करता रहा है और इसी की तार्किक परिणति 26 जनवरी वाला पूरा घटनाक्रम था जिसका निशाना कुछ लोगों को बनाकर निकलने का प्रयास हो रहा है। इस घटना के बाद अब सत्ता-व्यवस्था को भी दमन को जायज ठहराने का मौका मिल गया। हरियाणा के तमाम जिलों और धरना स्थलों पर इन्टरनेट सेवाओं को काट दिया गया है। एक तरह से गोदी मीडिया के कुत्साप्रचार को खुली छूट दे दी गयी है। कई पत्रकारों को निशाना बनाया गया और संगीन धाराएँ लगाकर उन्हें सलाखों के पीछे भेज दिया गया है। कई दफा धरनास्थलों के आस-पास के इलाकों के गुण्डों-लठैतों का नेतृत्व करते हुए संघी-भाजपाई कारकूनों द्वारा आन्दोलनकारियों पर फ़ासीवादी हमले किये गये। तमाम धरनास्थलों को कंटीले तारों और बैरिकेडों से पाट दिया गया है। लोगों के कान फोड़ने के लिए पुलिस की निगरानी में बड़े-बड़े स्पीकर लगा दिये गये हैं।

कुल मिलाकर फ़ासीवादी मोदी सरकार साम-दाम-दण्ड-भेद से किसानों का दमन करने पर उतारू है। हम किसानों के माँगपत्रक से सहमति नहीं रखते हुए भी इनके अपनी माँगों के लिए आन्दोलन करने के जनवादी हक़ का समर्थन करते हैं और सरकार के दमनकारी रवैये की भर्त्सना करते हैं।

– आह्वान डेस्क

सामयिकी

मौजूदा किसान आन्दोलन में भागीदारी को लेकर ग्राम पंचायतों और जातीय पंचायतों का ग़ैर-जनवादी रवैया

आह्वान संवाददाता

अपनी आर्थिक माँगों के लिए विरोध करना हरेक नागरिक, संगठन और यूनियन का जनवादी हक़ है। बेशक लोगों के जनवादी हक़ों को कुचलने के सत्ता के हर प्रयास का विरोध भी किया जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी मुद्दे पर असहमति रखना और विरोध न करना भी हरेक नागरिक और समूह का जनवादी हक़ है। इस हक़ को कुचलने के भी हरेक प्रयास को अस्वीकार किया जाना चाहिए और इसके लिए दबाव बनाने के हर प्रयत्न का विरोध किया जाना चाहिए।

पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के गाँवों में ग्राम पंचायतों और जातीय पंचायतों के द्वारा कई जगहों पर ग़ैर जनवादी फैसले लिए जा रहे हैं। उदाहरण के लिए पंजाब के जिले भठिण्डा के कलावला गाँव की पंचायत ने यह निर्णय लिया है कि गाँव के हरेक परिवार को नम्बरवार घर का एक-एक सदस्य सप्ताह भर के लिए दिल्ली-हरियाणा सीमाओं पर चल रहे किसान आन्दोलन स्थलों पर भेजना होगा। जो परिवार घर का सदस्य नहीं भेजना चाहते या नहीं भेज सकते उन्हें इसकी एवज में जुर्माने के तौर पर 2,100 रुपये भरने होंगे। जातीय पंचायतें और तथाकथित खाप पंचायतें तो हुक्का पानी बन्द करने के रूप में असहमतियों और कमजोर तबकों के हितों को गाहे-बगाहे दबाती ही रहती हैं और लोग इनका अपने तरीके से विरोध भी करते रहे हैं। लेकिन लोकतान्त्रिक निकायों का ही ऐसा रवैया होगा तो फ़िर उनमें और खाप पंचायतों में फ़र्क ही क्या रह जायेगा? अपनी मर्ज़ी से कोई चाहे अपने घर के हरेक सदस्य को धरनों पर भेज दे या लाखों रुपये की आर्थिक मदद दे दे इससे किसी को क्या ही एतराज हो सकता है, लेकिन गाँव में कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो आन्दोलन की माँगों से ही सहमत ना हों या फ़िर उनके अनुसार आन्दोलन की माँगों का उनके हितों से कोई सरोकार ही न हो।

इस पूरे मामले में यदि पंचायतें अपने फ़ैसलों को लागू कराने हेतु दबाव बनाती हैं तो उसका सबसे बड़ा खामियाजा गाँव की श्रमिक आबादी, जिनमें ज़्यादातर दलित हैं, को भुगतना पड़ेगा। गाँव में दलित श्रमिक आबादी के बीच बहुत से परिवार इतने गरीब होते हैं कि बिना मज़दूरी करे शाम को चूल्हा जलने के भी लाले पड़ जाते हैं तथा उनकी आर्थिक हालत 2,100 क्या 21 रुपये देने तक की भी नहीं होती। और इस तरह के फैसले गैर लोकतान्त्रिक तो हैं ही भले ही कोई सामाजिक या आर्थिक दबाव के चलते पारिवारिक सदस्यों को भेजने अथवा जुर्माना भरने की स्थिति में हो भी।

यह परिघटना तक़रीबन 8 महीने पहले घटित घटनाओं की याद ताज़ा कर देती है जब ग्रामीण कृषि मज़दूरों की मज़दूरी को पंचायती फ़ैसलों में तय/फ़िक्स कर दिया गया था। लेकिन आमतौर पर ये पंचायतें ग्रामीण खेत मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक अवकाश और ऑवर टाइम का डबल रेट से भुगतान जैसी माँगों के सम्बन्ध में चुप्पी साधे हुए रहती हैं। क्योंकि ज़्यादातर पंचायतें गाँव की धनी किसान आबादी के आर्थिक हितों की ही नुमाइन्दगी करती हैं और पूँजीवादी सत्ता की सबसे निचले अवलम्ब का काम कर रही होती हैं।

हर चीज़ बदलती है।
अपनी हर आखिरी साँस के साथ
तुम एक ताज़ा शुरुआत कर सकते हो।
लेकिन जो हो चुका, सो हो चुका।
जो पानी एक बार तुम शराब में
ढाल चुके हो, उसे ढालकर
बाहर नहीं कर सकते।
जो हो चुका, सो हो चुका है।
वह पानी जो एक बार तुम शराब में ढाल चुके हो
उसे ढालकर बाहर नहीं कर सकते
लेकिन
हर चीज़ बदलती है
अपनी हर आखिरी साँस के साथ
तुम एक ताज़ा शुरुआत कर सकते हो।

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट
(10 फ़रवरी 1898 – 14 अगस्त 1956)

सामयिकी

ग्रेटर हैदराबाद नगर निगम चुनाव के नतीजे : तेलंगाना व आन्ध्र में संघी फ़ासीवादी राजनीति की छलाँग के संकेत

पराग

पिछले दिसम्बर की शुरुआत में हुए ग्रेटर हैदराबाद नगर निगम के चुनाव प्रचार के लिए जब अमित शाह, योगी आदित्यनाथ, स्मृति इरानी, जे.पी. नड्डा और जावड़ेकर जैसे फ़ासिस्ट नेताओं ने हैदराबाद में डेरा डाला तो कई लोगों को बहुत ताज्जुब हुआ कि भला एक स्थानीय निकाय के चुनाव में इतने दिग्गज नेता क्यों कूद पड़े हैं। यहाँ तक कि नरेन्द्र मोदी भी कोरोना वैक्सीन बनाने वाले एक निजी लैब का दौरा करने के बहाने चुनाव प्रचार के आख़िरी दिन हैदराबाद पहुँच गये। नतीजों से पता चला कि पिछले नगर निगम चुनाव में केवल चार सीटें जीतने वाली भाजपा ने इस बार के चुनाव में 48 सीटें हासिल कर लीं। इससे पहले तेलंगाना के दुब्बका विधान सभा क्षेत्र के उपचुनाव में भाजपा के उम्मीदवार एम. रघुनन्दन राव ने जीत हासिल की थी। ग़ौरतलब है कि दुब्बका विधान सभा सीट तेलंगाना राष्ट्र समिति (टी.आर.एस.) का गढ़ मानी जाती थी। भाजपा की ये जीतें हाल के वर्षों में तेलंगाना में उसकी बढ़ती पैठ का ही सूचक है। इससे पहले 2019 के लोक सभा चुनावों में भाजपा ने 4 सीटें जीतीं थी और उसे 34% वोट मिले थे जबकि 2014 के लोकसभा के चुनावों में उसे महज़ एक सीट ही मिली थी और 2018 के विधान सभा चुनावों में उसे 18 प्रतिशत वोट ही मिले थे। हाल के दिनों में तेलंगाना राष्ट्र समिति और तेलुगूदेशम पार्टी के कई नामीगिरामी नेता और विधायक भाजपा में शामिल हुए हैं जो तेलंगाना व आन्ध्र में भाजपा की बढ़ती पैठ को ही दिखाता है।

नगर निगम के चुनावों में भाजपा की सफलता अनायास नहीं है, बल्कि यह संघ परिवार की विषैली हिन्दुत्ववादी राजनीतिक रणनीति का नतीजा है। ग़ौरतलब है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर.एस.एस.) ने हाल के वर्षों में दक्षिण भारत में अपने वैचारिक-राजनीतिक कामों पर ज़ोर बहुत बढ़ा दिया है। कर्नाटक में पहले से ही संस्थागत रूप में स्थापित होने के बाद अब दक्षिण भारत के अन्य हिस्सों में हिन्दुत्व की फ़ासिस्ट विचारधारा को विस्तारित करने के लिहाज़ से आन्ध्र और तेलंगाना, आर.एस.एस के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं। संघ के रणनीतिज्ञों को अच्छी तरह से पता है कि दक्षिण भारत में हैदराबाद वह केन्द्र है जहाँ लोगों का ध्रुवीकरण होने पर उसका असर तेलंगाना और आन्ध्र के कोने-कोने तक होगा और हिन्दुत्व की राजनीति को वहाँ अपनी पैठ बढ़ाने में मदद मिलेगी। हैदराबाद नगर निगम चुनाव को एक मंच की तरह इस्तेमाल करके भाजपा के नेताओं ने लोगों के बीच साम्प्रदायिक नफ़रत, ख़ौफ़ और आशंका फैलाने का काम किया। हैदराबाद में कई सालों से कोई दंगे नहीं हुए हैं और अमूमन आम नागरिक विभिन्न धर्मों के होने के बावजूद हैदराबादी के रूप में एकजुट रहना पसन्द करते हैं। पर ऐसा नहीं है कि वहाँ दंगे हो ही नहीं सकते। हैदराबाद में दंगों का एक पुराना इतिहास भी रहा है। आज़ादी के बाद के दशकों में चारमीनार का अतिक्रमण करके भाग्यलक्ष्मी मन्दिर का निर्माण किया गया और हैदराबाद के नाम को भाग्यनगर में बदलने की जो बातें पहले कभी-कभार सुनने में आती थीं उन्हें भाजपा के नेताओं ने इन चुनावी रैलियों में दोहराकर आने वाले दिनों में अपनी घिनौनी राजनीति को आगे करने के संकेत पूरी तरह से दे दिये हैं।

यही नहीं ग्रेटर हैदराबाद के नगर निगम चुनाव के दौरान कभी स्मृति ईरानी ने रोहिंग्या मुसलमानों के हैदराबाद के पुराने शहर में छुपे होने की बात कही तो कभी प्रदेश अध्यक्ष संजय बण्डी ने हैदराबाद के पुराने शहर पर, जोकि शहर का मुस्लिम बहुल हिस्सा है, पाकिस्तान की तरह सर्जिकल स्ट्राइक करने की बात कही। हैदराबाद में पुराने शहर की सीटों पर मुस्लिम अस्मिता के आधार पर ओवैसी की पार्टी के उम्मीदवार भारी बहुमत से जीत दर्ज करते आये हैं। ओवैसी बंधुओं की राजनीति भी कट्टर मुस्लिम कट्टरपन्थी राजनीति है और उनके द्वारा दिए गए सभी बयान और भाषण जिसमें वो हिन्दू समुदाय को अक्सर चुनौती देते पाए जाते हैं, वो भी भाजपा को हिन्दुओं को संगठित करने में मददगार साबित होती है। ओवैसी की पार्टी एआईएमआईएम मुस्लिम पहचान को संगठित करती रही है और हैदराबाद में भाजपा के इस प्रवेश के साथ वो भी हिन्दू-मुस्लिम की राजनीति का लाभ उठाने को तत्पर है। हैदराबाद की जनता के बीच अब दोनों ही तरफ़ से प्रतिक्रियावादी सामग्री परोसी जा रही है और साम्प्रदायिक ज़हर फैल रहा है। चुनावी रैली में भाजपा के नेता तेजस्वी सूर्या ने ओवैसी को जिन्ना कह कर सम्बोधित किया और हैदराबाद के हिन्दुओं के बीच ये ज़हर उगला कि पुराना शहर पाकिस्तान की तरह है और उसे सही करने के लिए हिन्दुओं की पार्टी भाजपा का सत्ता में आना ज़रूरी है। हैदराबाद नगर निगम चुनाव प्रचार के दौरान जनता को सम्बोधित करते समय योगी और अमित शाह बार-बार निज़ाम संस्कृति से मुक्ति की बात कर रहे थे। हैदराबाद में रहने वाले जानते हैं कि वहाँ की संस्कृति को हिंदुस्तानी/दक्खिनी संस्कृति कहा जाता है जोकि एक साझा संस्कृति है और इससे आज़ाद होने की माँग तो कभी वहाँ की आम जनता ने उठाई ही नहीं है। निज़ाम संस्कृति जैसी शब्दावली हैदराबाद की आम जनता इस्तेमाल ही नहीं करती है। इस तरह के नये शब्द गढ़ने के पीछे घृणित साम्प्रदायिक राजनीति ही है। शब्दों द्वारा लोगों के मन में एक-दूसरे से असुरक्षित महसूस

करवाने की यह चाल है। इस तरह के शब्द भी भविष्य में फ़ासिस्ट राजनीति को बढ़ाने के उद्देश्य से लोगों के बीच ज़ोर शोर से प्रचारित किये जा रहे हैं। अमित शाह ने अपने वक्तव्य में कई बार यहाँ की जनता को निज़ाम संस्कृति से मुक्ति दिलाने की बात कहते हुए ये भी कहा की यहाँ मिनी इंडिया बनाया जाएगा। इससे ये बात साफ़ हो जाती है की जहाँ भी मुस्लिम बहुल आबादी रहती है उसे वो असली भारत मानते ही नहीं हैं और अब वहाँ के हिन्दुओं को धर्म और राष्ट्र के नाम पर खतरा बताकर उकसायेंगे और भविष्य में साम्प्रदायिक दंगे तक करवाने से नहीं चूकेंगे। सोशल मीडिया पर तैनात आई टी सेल द्वारा अब हज़ारों बार निज़ाम संस्कृति बोला जा रहा है, फिर भाग्यलक्ष्मी मन्दिर से जुड़ी मिथकीय बातें भी प्रचलित की जा रही हैं। यही नहीं ये खबरें भी फैलाई जा रही हैं कि रोहिंग्या ''आतंकवादी'' आपके शहर में ही रहते हैं। हैदराबाद के हिन्दुओं को वो ख़तरा भी महसूस करवाया जा रहा है जो है ही नहीं।

ऐतिहासिक तौर पर फ़ासिस्ट झूठ को बार बार बोलकर सच बनाने में और मिथकों को इतिहास बनाने में माहिर होते हैं और यही हैदराबाद में किया जा रहा है। पिछले चार-पाँच सालों से जिस तरह आर.एस.एस ने हर हिन्दू त्योहारों जैसे गणेश चतुर्थी या हनुमान जयन्ती को एक मेगा इवेण्ट और पेड बाइक रैलियों में तब्दील किया है, उससे साफ़ समझ आता है कि ये योजना कोई यकायक नहीं बनी है। इन विशाल आयोजनों में अकूत धन का इस्तेमाल किया जाता है और बड़ी रैलियों द्वारा हिन्दुओं की लामबन्दी को देख कर लगता है कि आने वाले सालों में किसी भी त्योहार पर कुछ छोटे विवाद द्वारा बड़ा दंगा प्रायोजित किया जा सकता है जिससे तेजी से धार्मिक ध्रुवीकरण और बढ़ेगा।

हाल ही की एक रिपोर्ट बताती है कि पिछले साल देश में सबसे ज्यादा इलेक्टोरल बॉण्ड हैदराबाद में भजाये गये और टी.आर.एस और भाजपा द्वारा नगर निगम चुनाव में बहाये पैसे से साफ़ तौर पर दिखाई भी पड़ता है। भाजपा का इरादा यह है कि स्थानीय निकायों के चुनाव जीतकर यहाँ एनआरसी लागू करने की प्रक्रिया शुरू करने का भी है। हैदराबाद में यदि एनआरसी हो जाये और गोदी मीडिया द्वारा कुछ लोगों को रोहिंग्या या घुसपैठिये साबित कर दिया जाए तो हैदराबाद के द्वारा पूरे देश में साम्प्रदायिकता की लहर फैलाई जाये। यही कारण है कि हैदराबाद को फ़ासिस्ट अपनी राजनीति का अहम हिस्सा मानते हैं। एण्टी सीएए प्रोटेस्ट में हैदराबाद में जो जन सैलाब उमड़ा था उसे देखकर फासिस्टों ने उसे चुनौती की तरह लेते हुए वहाँ दंगे करवाने की मन में ठान ली है और इसलिए उन्होंने निज़ाम संस्कृति और भाग्यलक्ष्मी मन्दिर की बात शुरू कर दी है।

जिस तरह नब्बे के दशक में अयोध्या में राम जन्मभूमि की ज़मीन को लेकर विवाद खड़ा करने से लेकर बाबरी मस्जिद के ढहने के पीछे हिन्दुत्व फ़ासिस्ट ताकतों का हाथ रहा है, बिल्कुल उसी तरह हैदराबाद में भाग्यलक्ष्मी मन्दिर को दो समुदायों के विवाद के रूप में एक लम्बे कालखण्ड में स्थापित किया जा रहा है। स्थानीय लोग बताते हैं कि भाग्यलक्ष्मी मन्दिर का निर्माण एक छोटे मन्दिर के रूप में आज़ादी के बाद के दशकों में हुआ और अतिक्रमण करते हुए अब मन्दिर लगभग चारमीनार की दीवार से जा लगा है। भारतीय पुरातत्व विभाग भी पिछले दो दशकों में कई बार चारमीनार के पास से मन्दिर को हटाने का सुझाव दे चुका है। उन्होंने ये भी कहा है कि इस तरह के अतिरिक्त अवैध निर्माण के कारण ही चारमीनार, यूनेस्को द्वारा घोषित वैश्विक धरोहर स्मारकों की सूची में शामिल नहीं हो पा रहा है। पुरातत्व विभाग के अनुसार धीरे धीरे बढ़ते अतिक्रमण की वजह से मन्दिर के गर्भगृह और चारमीनार के बीच एक साझा दीवार है और मन्दिर के पिछली तरफ़ की दीवारें दक्षिण-पूर्वी मीनार की संरचना में प्रविष्ट भी कर चुकी हैं और दोनों संरचनाओं के बीच अब कोई जगह नहीं बची है और इससे संरक्षण सम्बंधित विभिन्न मुद्दे पैदा हो रहे हैं। हालाँकि कई स्थानीय लोग मानते हैं कि मन्दिर का निर्माण चन्द दशकों पहले ही हुआ है, लेकिन प्रचार द्वारा साम्प्रदयिक ताकतों ने हिंदू समूहों के बीच ये तर्क भी गढ़ दिया है कि यह ढाँचा चारमीनार जितना ही पुराना है। 'द हिन्दू' अख़बार की एक ख़बर में चारमीनार की दो तस्वीरें दिखाई गयी जिसमें पुरानी ब्लैक एण्ड व्हाइट तस्वीर में कोई मन्दिर नहीं है और आज की तस्वीर में एक बड़ा मन्दिर दिखाई देता है। इससे ये साफ़ हो जाता है कि भाग्यलक्ष्मी मन्दिर का अस्तित्व आज से पचास-साठ साल पहले तक वहाँ था ही नहीं। फिर भी फ़ासीवादी भाजपा एक राजनीतिक षडयंत्र के तहत लोगों के बीच ये धारणा स्थापित करना चाहती है कि ऐतिहासिक तौर पर वह जगह हिन्दुओं की जगह है और मन्दिर का अस्तित्व चारमीनार के पहले से है। इसी झूठ को सच बनाने की कड़ी में ही गृह मंत्री अमित शाह जब हैदराबाद नगर निगम चुनाव प्रचार के लिए जब हैदराबाद पहुंचे तो एयरपोर्ट से सीधे भाग्यलक्ष्मी मन्दिर गये और वहाँ पूजा करने के बाद ही रोडशो में शामिल हुए। हैदराबाद शहर में साम्प्रदायिक माहौल तैयार करने के लिए ये कदम उठाया गया था। हैदराबाद शहर में बहुत प्राचीन मन्दिर हैं जैसे यादगिरिगुट्टा या चिलकुर बालाजी मौजूद हैं परन्तु अमित शाह ने सोची-समझी राजनीतिक साजिश के तहत भाग्यलक्ष्मी मन्दिर को ही चुना जो कि एक मुस्लिम बहुल इलाक़े में है और जिसका अस्तित्व विवादास्पद है। नगर निगम चुनाव में हिन्दुओं के वोट पाने के लिए और आने वाले समय में भी शहर में अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए लोगों के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य फैलाने के मद्देनज़र ही भाग्यलक्ष्मी मन्दिर और शहर का नाम भाग्यनगर रखने का राजनीतिक दाँव खेला गया है।

फ़ासिस्ट अपने काडरो द्वारा हर गली मोहल्ले में सामाजिक-धार्मिक समितियों का गठन करते हैं और हर त्योहार या घटना का राजनीतिक लाभ उठाते हुए अपना आधार धीरे धीरे लोगों के बीच बढ़ाते जाते हैं। सिकन्दराबाद की लोक सभा सीट पर तो भाजपा आडवाणी-वाजपेयी के दिनों से जीतती आ रही है। सिकन्दराबाद में क्रिस्चियन समुदाय काफी संख्या में रहता है और भाजपा के काडर उस इलाके में धार्मिक तनाव बनाते हुए लगातार प्रचार करते हैं जिससे हिन्दू वोट संगठित होकर उन्हें मिलते हैं। इस इलाके में पिछड़ी जातियों से आने वाले हिन्दू जो मुख्यतः व्यापारी हैं, वो भी भाजपा के पुराने समर्थक हैं। इसी प्रकार उत्तर तेलंगाना की तीन सीट निज़ामाबाद, आदिलाबाद और करीमनगर में पिछले तीन सालों में लम्बाडा समुदाय और अन्य आदिवासी समुदाय के बीच तनाव

को और बढ़ाया गया है। अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीमित सीटों को लेकर लम्बाडा समुदाय और अन्य अनुसूचित जनजातियों के बीच लड़ाई बनी हुई है। आदिवासियों के नेताओं का ये मानना है कि लम्बाडा समुदाय को इस सूची से बाहर निकाल देना चाहिए क्योंकि वो अब दूसरों के अधिकार छीन रहे हैं। इन इलाक़ों में मौजूद इस तरह के सामाजिक तनाव और धार्मिक तनाव का फायदा भाजपा ने खूब उठाया और बहुसंख्यक आदिवासी समुदाय के उन नेताओं को टिकट दिया जिससे उसे फ़ायदा हुआ और जीत मिली। ये उन लोगों के लिए समझना ज़रूरी है जो भाजपा को केवल उच्च जातियों की ब्राह्मणवादी पार्टी घोषित करते रहते हैं। भाजपा एक काडर पर आधारित फ़ासिस्ट पार्टी है जो समाज में मौजूद किसी भी तरह के धार्मिक या अंतर्जातीय भेद को सोशल इंजीनियरिंग द्वारा और पैसे के बल पर अपने पक्ष में कर चुनाव जीतती है।

टीआरएस का मुख्य आधार हैदराबाद शहर की 50% जनसंख्या के बीच रहा है जो पिछड़ी जातियों से आते हैं और पृथक तेलंगाना आन्दोलन के समय से टीआरएस के समर्थक रहे हैं। पर इन पिछड़ी जातियों में भी अपनी ख़ास जाति की नुमाइन्दगी को लेकर आपसी संघर्ष है। तेलंगाना राज्य बनने के बाद से ही मध्यवर्ती जाति जैसे रेड्डी जो सम्पत्तिवान वर्ग है उसे संख्या के अनुपात में राजनीति में अधिक प्रतिनिधित्व मिला जिसके कारण जो अति पिछड़ी जातियाँ हैं उन्हें अपना प्रतिनिधित्व बढ़ाने की राजनीति ने खींचा है। ग्रेटर हैदराबाद चुनाव में इस अन्तरजातीय अन्तरविरोध का फ़ायदा लेने के लिए भाजपा ने अति पिछड़ी जातियों के एक बड़े हिस्से के प्रतिनिधियों को टिकट दिए जिससे उसे फ़ायदा भी हुआ। टीआरएस ने अन्य पिछड़ी जातियों के उम्मीदवारों को टिकट देने के इतिहास को फिर दोहराया पर भाजपा ने अति पिछड़ी जाति के उम्मीदवारों को टिकट देकर अस्मितावादी राजनीति में भी जीत अर्जित कर ली। इसका नतीजा ये रहा कि वोट शेयर के आधार पर टीआरएस और भाजपा में मामूली 0.3% का ही फ़र्क़ बच गया। काडर के आधार पर हिन्दू वोट संगठित करती भाजपा व संघ के स्थानीय कार्यकर्ताओं ने कुरुमा, कुम्मारी, वढेरा, विश्वकर्मा और चत्ताड़ा श्रीवैष्णनव जैसी अति पिछड़ी जातियों के लिए विभिन्न कार्यक्रम भी आयोजित किये और उन्हें पार्टी में कई पदों पर नियुक्त भी किया। इसके अलावा जिन इलाक़ों में परम्परागत उच्च जातीय वोट बैंक मौजूद है वहाँ उन्हें भी आगे बढ़ाया। पिछड़ी जातियों को हिन्दुत्व की विचारधारा के साथ जोड़ के रखने के लिए आर एस एस एक लम्बे समय से काम कर रहा है और भाजपा भी इस बात से अवगत है कि दक्षिण भारत में ख़ासतौर पर तेलंगाना जैसे प्रदेश में पिछड़ी जातियों के बीच हिन्दुत्व का प्रचार-प्रसार और साम्प्रदायिक तनाव ही उनका राजनीतिक आधार बढ़ा सकता है।

हैदराबाद शहर की जनसंख्या का लगभग एक तिहाई हिस्सा मुस्लिम समुदाय है परन्तु सत्तर फ़ीसदी मुस्लिम हैदराबाद की पुराने शहर में बसे हुए हैं। यहीं से ओवैसी बंधुओं की पार्टी जीतती भी रही है। हैदराबाद में सदी के सबसे पहले दंगे 1938 में हुए थे। यही वो दौर था जब हैदराबाद में मुस्लिम लीग और आर्य समाज दोनों का ही आधार बढ़ा था। सामन्ती निज़ाम के ख़िलाफ़ तेलंगाना सशस्त्र विद्रोह के क्रूरता पूर्ण दमन के लिए कांग्रेस ने ही एआईएमआईएम को कम्युनिस्टों को टक्कर देने के लिए बढ़ावा दिया। अगले दंगे इमरजेंसी के बाद के हालत में 1978 में हुए। पर हैदराबाद में सबसे भयानक साम्प्रदायिक दंगे 1990-91 की ठण्ड में हुए थे जिसमें 150 से ज्यादा लोग मारे गए थे। यही वो समय है जबसे भाजपा ने सिकन्दराबाद से चुनाव में जीतना भी शुरू किया था। इसके बाद बाबरी मस्जिद विध्वंस हुआ पर शहर में उस समय दंगे नहीं हुए। इसके बाद पिछले तीस सालों में छुटपुट धार्मिक तनाव तो हुए लेकिन दंगे नहीं हुए हैं। यही कारण है कि आम हैदराबादी व्यक्ति मानता है कि हैदराबाद में दंगे नहीं हो सकते क्यों कि यहाँ की मिलीजुली दक्खनी संस्कृति लोगों को बाँधे रखती है। परन्तु यहाँ का इतिहास बताता है कि यदि एक समुदाय भी राजनीतिक दुष्प्रचार का हिस्सा बन गया तो दंगों संभावनाओं को नकारा नहीं जा सकता। लोगों में ये भय पैदा करने की सक्षमता की एक अहम् वजह थी जिसके कारण भाजपा की सीटें 4 से बढ़कर 48 तक पहुँच गयीं।

भाजपा और संघ परिवार की बढ़ती पैठ की अन्य वजह यह है कि तेलंगाना की आम जनता मौजूदा टीआरएस सरकार से त्रस्त है। पृथक तेलंगाना बनने के बाद आम मेहनतकश जनता के जीवन में कोई सुधार नहीं आया और हैदराबाद में हाल ही में आई बाढ़ में जनता त्राहि-त्राहि करती रही और केसीआर प्रशासन सोता रहा। इसके पहले बस ट्रांसपोर्ट मजदूरों की तनख्वाह ना बढ़ने और प्रवासी मज़दूरों के साथ किये गए सलूक़ से भी जनता में केसीआर सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष है। रियल एस्टेट माफ़िया को नदी नालों के ऊपर भी निर्माण करने की अनुमति मिलने के कारण बारिश का पानी निकलने तक के लिए शहर में जगह नहीं बची है जिसके कारण बाढ़ की स्थिति बनी। टीआरएस की भ्रष्ट परिवारवादी पूँजीपरस्त जातिगत राजनीति के बरक्स भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति लोगों के बीच जगह बनाने लगी है। चुनावों में धार्मिक ध्रुवीकरण बढ़ाने से ओवैसी की एआईएमआईएम को भी फायदा पहुँचता है और भाजपा को भी। इन दोनों की ही राजनीति ने एक दूसरे के वोटों को बढ़ाने का काम किया। भाजपा ने हैदराबाद शहर में रैलियों में और वोटरों को बांटने के लिए बहुत धन राशि भी इस्तेमाल की। पूँजीपतियों के समर्थन से राज करती भाजपा को इलेक्टोरल बॉण्ड के माध्यम से किसी भी राजनीतिक दल से ज्यादा पैसा मिलता है। धन बल का इस्तेमाल वो चुनावी प्रचारों में तो लगाती ही है परन्तु इसके अलावा वो ग़रीब वोटरों में भी पैसे बँटवाती है। यही वो फ़ार्मूला है जिसके बल पर ग्रेटर हैदराबाद नगर निगम चुनावों में भाजपा ने अपनी सीटें दस गुना तक बढ़ा ली हैं। ये सब समझते हुए बेहद ज़रूरी है कि यहाँ का प्रगतिशील तबक़ा ये बात समझे कि किसी तरह की जातिगत लामबन्दी या धार्मिक लामबन्दी इस फ़ासिस्ट खतरे से मुकाबला नहीं कर सकती है क्योंकि भाजपा इसमें माहिर है। तेलंगाना विद्रोह की इस ज़मीन पर लोगों को फ़ासिस्टों से सभी मोर्चों पर लड़ना होगा और आम मेहनतकश जनता के बीच उनकी जीवन से जुड़ी माँगों को उठाते हुए तृणमूल स्तर पर इस ख़तरे से निपटने के लिए संगठित करना होगा।

सामयिकी

क्या हिरासत में होने वाली यातनाओं को रोकने के लिए सीसीटीवी कैमरे पर्याप्त हैं?

वृषाली

हाल ही में सुप्रीम कोर्ट के एक बेंच ने देश भर के राष्ट्रीय जांच एजेंसी (एनआईए), केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई), प्रवर्तन निदेशालय (ईडी), राजस्व खुफिया निदेशालय (डीआरआई), नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो (एनसीबी) आदि जैसी सभी जांच एजेंसियों के कार्यालयों में सीसीटीवी कैमरे लगाने का आदेश जारी किया है। कोर्ट का आदेश है कि इन कैमरों में नाइट विजन व रिकॉर्डिंग उपकरण भी लगे हुए हों। सुप्रीम कोर्ट का मानना है कि इस कदम से हिरासत में होने वाले उत्पीड़न पर काबू पाया जा सकेगा। यूँ तो पुलिस थानों में सीसीटीवी कैमरे लगाने का आदेश 2018 में ही जारी कर दिया गया था लेकिन असल सवाल यह है कि इन कैमरों से हिरासत में होने वाले उत्पीड़न पर क्या वाकई में काबू कर पाना सम्भव है?

जून 2020 में तमिलनाडू के तूतीकोरिन जिले में पी जेयराज (59) व बेनिक्स (31) की पुलिस प्रताड़ना के बाद मौत की घटना को अभी ज़्यादा वक़्त नहीं गुज़रा है। इस घटना के बाद तमिलनाडु और दक्षिण भारत में लोगों का गुस्सा उबाल पर था। लेकिन इस घटना में भी ज्यूडिशियल मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट के अनुसार कोई सीसीटीवी फ़ुटेज उपलब्ध नहीं हो पाया क्योंकि थाने में लगे सीसीटीवी कैमरे का एकाउंट 'ऑटो-डिलीट'पर था। ज़ाहिरा तौर पर यह कोई अपवाद नहीं है, हिरासत में ऐसे उत्पीड़न, बलात्कार व यातनाओं के कई मामले गिनाये जा सकते हैं जिनकी सीसीटीवी फुटेज नदारद हैं। लेकिन यह एक हालिया घटना ही सुप्रीम कोर्ट के इस फ़ैसले की सीमाओं को साफ़ करने के लिए काफ़ी है। इसके इतर इस नये आदेशानुसार आधिकारिक गिरफ़्तारी से पहले व थानों और कार्यालयों के बाहर होने वाली प्रताड़ना के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गयी है। यही नहीं, इस फ़ैसले में मानसिक व न नज़र आने वाले शारीरिक उत्पीड़न को भी नज़रंदाज़ किया गया है।

भारत में हिरासत में उत्पीड़न के आँकड़े

भारत में हर वर्ष पुलिस व न्यायिक हिरासत में सैकड़ों की संख्या में लोगों की मौतें हो रही हैं। जुलाई 2019 के दौरान भाजपा नीत एनडीए की मोदी सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों के अनुसार ही पिछले तीन वर्षों में 4,476 लोगों की मौतें हिरासत के दौरान हुई हैं। इनमें से 427 लोगों की मृत्यु पुलिस हिरासत के दौरान तथा 4,049 लोगों की मौत न्यायिक हिरासत के दौरान हुई है। राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन के अनुसार साल 2019 में हिरासत में 1,723 मौतें दर्ज की गयी थीं जिनमें 1606 न्यायिक हिरासत व 117 पुलिस हिरासत में हुई थीं, यानी हर रोज़ तक़रीबन 5 मौतें। 2019 की एक रिपोर्ट के अनुसार नैशनल कैम्पेन अगेंस्ट टॉर्चर (एनसीएटी) द्वारा दर्ज 125 केसों में 93 लोगों की मौत पुलिस हिरासत में हुए प्रताड़ना की वजह से थी, व 24 लोगों की मौत संदेहास्पद स्थितियों में हुई थी। इनमें से 60% मामलों में कैदी ग़रीब या उपेक्षित तबकों से सम्बन्धित थे।

हिरासत में प्रताड़ना के असल कारण

1861 में औपनिवेशिक गुलामी के दौर में गठित भारतीय पुलिस व्यवस्था का मुख्य काम उस वक़्त जनता को दबाने-कुचलने का ही था। आज भी जारी पुलिसिया उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का कारण इसका पुराना ढंग-ढर्रा है। उत्तर-औपनिवेशिक सत्ता के बाद भी उत्पीड़न और दमन का यह तन्त्र बदस्तूर जारी है क्योंकि यह मौजूदा व्यवस्था के लिए लाभप्रद है। अमानवीय व्यवहार के लिए ट्रेंड अफ़सर थानों में अपना एकछत्र राज चलाते हैं। इनके लिए किसी कैदी से ज़ुर्म कबूल करवाने, रिश्वत लेने, धाक जमानेआदि के लिए यातना देना पुलिसकर्मियों के बाएं हाथ का खेल है।

जिस देश में हर दिन 5 लोग हिरासत में दम तोड़ दें, उस देश की पुलिसिया व्यवस्था सीसीटीवी कैमरों की बदौलत नहीं बदल सकती। सीसीटीवी कैमरों को भी मुलाजिम ही संचालित करेंगे कोई बाहर से नहीं आयेगा। हिरासत में होने वाली मौतों पर लगाम लगाने के लिए सबसे ज़रूरी है पुलिसिया तन्त्र का जनवादीकरण, जिसके लिए कदम उठाना इस व्यवस्था को मंजूर नहीं है। इसलिए हिरासत में होने वाली मौतों को रोकने के लिए सीसीटीवी कैमरे नहीं बल्कि निरंकुश पुलिसिया तन्त्र में सुधार और जनता के बेलगाम उत्पीड़न को प्रश्रय देने वाली क़ानूनी धाराओं को समाप्त करना ज़रूरी है।

दूसरा हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मौजूदा व्यवस्था वर्गीय शोषण पर आधारित है। शोषित वर्ग के शोषण को बरकरार रखने के लिए ही पुलिस, फौज और न्याय का पूरा ढकोसला खड़ा किया गया है। बेशक दमन-उत्पीड़न की व्यवस्था का पूरा खात्मा तो वर्ग समाज की समाप्ति के साथ ही हो सकता है। लेकिन पूँजीवाद भी जिन जनवादी हक़ों को देने की बात संविधान में करता है उन्हें वास्तव में लागू करवाने के लिए भी संघर्ष की ज़रूरत होती है और इसी प्रक्रिया में जनता के सामने व्यवस्था के सीमान्त भी बेपर्दा होते हैं।

विश्व पटल पर

साम्राज्यवादी ताकतों की छाया में अज़रबैजान और आर्मेनिया का युद्ध

सनी

अज़रबैजान ने उन्नत युद्ध तकनीक, सेना और तुर्की समर्थित सीरियन लिबरेशन आर्मी के दम पर आर्मेनिया पर 27 सितम्बर को युद्ध थोप दिया। यह युद्ध कॉकेशिया के काले पहाडों के भूभाग नागोर्नो काराबाख के लिए था। युद्ध में 5000 से अधिक लोगों की जान गई और हजारों लोग विस्थापित हुए। युद्ध 6 हफ्ते बाद आर्मेनिया के हार स्वीकार करने पर ही थमा। दोनों देश ने रूस की मध्यस्थता में शान्ति प्रस्ताव स्वीकार किया। आर्मेनिया रूस का सामरिक सहयोगी रहा है वहीं रूस के अज़रबैजान से भी अच्छे सम्बन्ध हैं। युद्ध में रूस की एकमात्र दिलचस्पी अपने पिछवाड़े उठ खड़े हुई टकराहट को बिना किसी बाहरी दखल के हल करना थी। रूस इस मसले में 'टाइट रोप वाकिंग' कर रहा था। वह दोनों देशों में अपनी साम्राज्यवादी भूमिका को बरकारार रखना चाहता है। आर्मेनिया के नवनिर्वाचित प्रधानमन्त्री की रूस से स्वतंत्र विदेश नीति रखने की आशाओं को तात्कालिक तौर पर धक्का लगा है और रूस ने काराबाख में सैन्य नियंत्रण काबिज किया है, तो साथ ही रूस ने अज़रबैजान से सम्बन्ध खराब किये बिना तुर्की की पहुंच को कम करने का प्रयास किया। वहीं तुर्की ने अज़रबैजान के साथ मिलकर ट्रांसकॉकेशिया में अपनी दखल बढ़ाई है।

काराबाख के लिए आर्मेनिया और अज़रबैजान के बीच 1918-1920 से ही झड़पें जारी हैं जो भड़ककर दो काराबाख युद्धों को जन्म दे चुकी हैं। काराबाख को सोवियत यूनियन में अज़रबैजान समाजवादी सोवियत गणराज्य में शामिल कर पहली बार 1920 में इस मसले को हल किया गया था। सोवियत संघ के पतन के बाद से ही यह अन्तरविरोध फिर से उभर गया। इस क्षेत्र में मुख्यत: आर्मेनिया मूल की आबादी रहती है। 1988-1994 से पहले यहां आर्मेनी आबादी के साथ अज़ेरी और कुर्द आबादी मिल कर रहती थी। परन्तु 1994 तक अज़ेरी आबादी विस्थापित हुई तो दूसरी तरफ़ अज़रबैजान से आर्मेनी मूल की आबादी विस्थापित हुई। 1994 में काराबाख में आर्मेनिया के राज्य के मातहत ही स्वायत्त अश्तखान गणराज्य सरकार स्थापित हुई थी। 2020 के युद्ध से पहले काराबाख क्षेत्र के साथ ही आर्मेनिया का अज़रबैजान के एक भूभाग पर भी सैन्य नियंत्रण था जिसे अज़रबैजान ने मौजूदा युद्ध में हासिल किया है। मौजूदा युद्ध 6 हफ्ते तक चला जिसमें अज़रबैजान ने आर्मेनिया की सेना को कई रणनीतिक मोर्चों पर परास्त किया। इस युद्ध में अज़रबैजान द्वारा ड्रोन से व अन्य आधुनिक सैन्य उपकरणों से युद्ध लड़ा गया। इस युद्ध की पूर्वपीठिका पहले से ही तैयार हो रही थी। तुर्की और अज़रबैजान ने युद्ध से पहले ही साथ में सैन्य ड्रिल भी किया था। 2016 में दोनों देशों के बीच आखिरी बड़ी झड़प हुई थी जिसमें कि सैकड़ों लोगों की जान गई थी। इस विवादित क्षेत्र में दोनों देशों के बीच 1994 से हर महीने 'लाइन ऑफ कॉन्टैक्ट' पर सैन्य टकराव जारी ही रहा है जिसमें सेना द्वारा गोलीबारी और बमवर्षा की जाती रही है। दरअसल मौजूदा युद्ध अपेक्षित था। फिलहाल क्षेत्र में जारी अन्तरविरोधों का संतुलन अज़रबैजान के पक्ष में हुआ है। परन्तु आगे यह अन्तरविरोध फिर से सुलगेगा यह निश्चित है।

आर्मेनिया की रूस पर हर तरह से आर्थिक व सामरिक निर्भरता रही है। 2018 में भ्रष्टाचार के खिलाफ़ चले आंदोलन 'वेल्वैट क्रान्ति' के बाद सत्ता में प्रधानमन्त्री निकोल पाशिनयान आए। निकोल पाशिनयान से साम्राज्यवादी रूस पर अतिनिर्भरता की स्थिति को बदलने की उम्मीद की जा रही थी। परन्तु इस युद्ध में रूस ने शुरूआत में निष्क्रियता दिखाई और 6 हफ्ते बाद हस्तक्षेप किया और दोनों देशों को युद्ध विराम करने पर मजबूर किया। शान्ति प्रस्ताव के जरिए रूस ने नागोर्नो काराबाख में अपनी 'शान्ति' सेना भेजी है। इसके जरिये रूस ने आर्मेनिया को सामरिक निर्भरता का आभास कराया है। रूस के द्वारा काराबाख में सेना तैनात करने के बाद तुर्की ने भी अपनी सेना शान्ति के नाम पर काराबाख में भेजी है।

वहीं अज़रबैजान के राष्ट्रपति इल्हाभम आलिएव ने भी युद्ध में जीत हासिल कर अपनी छवि का रूपांतरण किया है और युद्धोन्माद के जरिए जनता की असल समस्याओं से ध्यान हटा दिया है। रूस ने अज़रबैजान के बढ़ते कदमों को देखते हुए निर्णायक शान्ति प्रस्ताव दिया जिसे ठुकराना अज़रबैजान के लिए मुश्किल था क्यों कि इसका मतलब सीधे क्रेमलिन से टकराना होता। वहीं इस युद्ध में सबसे अधिक फायदा तुर्की को मिला है। एर्गोदेन ने कॉकेशिया की राजनीति में अपनी दखल बनाई है। उत्तरी ईरान में मौजूद अज़ेरी आबादी, मध्य पूर्व और उत्तरी कॉकेशिया की मुस्लिम बहुल आबादी पर इस युद्ध से प्रभाव पड़ने की सम्भावना की वजह से ही रूस और ईरान भी इसपर चिंतित है। ईरान ने एर्गोदेन द्वारा अज़रबैजान में विजय जुलूस के दौरान ओटोमन साम्राज्य का स्तुति गान करने वाली कविता पेश करने पर विरोध दर्ज कराया है। एर्गोदेन तुर्की की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को नवओटोमन साम्राज्य स्थापित करने के आख्यान के जरिये पेश कर रहा है। ईरान के आर्मेनिया से अच्छे सम्बन्ध रहे हैं परन्तु इस युद्ध के आगे बढ़ने पर ईरान की अज़ेरी मूल आबादी ने आर्मेनिया के खिलाफ़

प्रदर्शन किया। इससे ईरान की आन्तरिक समस्या बढ़ सकती थी वहीं रूस को भी इस परिवर्तन से उत्तरी कॉकेशिया की मुस्लिम आबादी के बीच रूस के विरोध में अलगाववादी आंदोलन के पैदा होने का डर है। तुर्की मध्यपूर्व में पहले ही खुद को स्वतंत्र ताकत के रूप में स्थापित कर रहा है। सीरिया में तुर्की और रूस का एक दूसरे से टकराव हो चुका है। ईरान, सीरिया और रूस के संश्रय के बरक्स अमरीका, इज़रायल और गल्फ कॉरपोरशन के देशों की लॉबी है, क़तर को छोड़कर जो ईरान के साथ भी सम्बन्ध बनाए हुए है, और तीसरे पक्ष के तौर पर तुर्की खुद को स्थापित कर रहा है। तुर्की और रूस के बीच तनातनी मध्य, पूर्व, उत्तरी अफ्रीका में पहले से ही जारी है। सीरिया, लीबिया के बाद ट्रांसकॉकेशिया वह तीसरा युद्ध का रणक्षेत्र है जहां दोनों शक्तियां आमने सामने हैं।

अज़रबैजान और आर्मेनिया के आपसी संघर्ष का इतिहास

पहले विश्व युद्ध के दौर में आर्मेनिया और अज़रबैजान ओटोमन साम्राज्य और जारशाही के बीच पीस रहे थे। रूसी क्रान्ति के बाद ही दोनों देशों में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार पूरा हुआ। आर्मेनिया में रूसी क्रान्ति के ठीक बाद एक जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आया, जिसे प्रथम गणराज्य के नाम से भी जाना जाता है। यह 1918 से 1920 तक मौजूद रहा। इसके बाद वहां बोल्शेविक सत्ता में आए और 1920 में वहां समाजवादी गणराज्य की स्थापना हुई। गृहयुद्ध में लाल सेना ने जब इन देशों को पराजित किया, तो बुर्जुआ सत्ता बेहद कमज़ोर हो गयी या उनका पतन हो गया और कम्युनिस्टों ने समाजवादी सोवियत गणराज्य का निर्माण किया।

इसी प्रकार अज़रबैजान में भी अक्तूबर क्रान्ति के तुरन्त बाद कौमी आज़ादी मिलने के साथ बुर्जुआ जनवादी गणराज्य़ अस्तित्व में आया जो कि 1920 तक कायम रहा। इसके साथ ही राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार यहां पूरा हो गया। इसे अज़रबैजान जनवादी गणराज्य के नाम से जाना गया। इसकी बुर्जुआ सरकार ने भी गृहयुद्ध के दौरान अपने देश के बोल्शेविकों के सामने आत्म समर्पण कर दिया, क्योंकि लाल सेना के सामने भी उनकी पराजय हो रही थी। अज़रबैजान समाजवादी सोवियत गणराज्य और आर्मेनिया समाजवादी सोवियत गणराज्य ज्योर्जिया समाजवादी सोवियत गणराज्य के साथ मिलकर 1922 में ट्रांसकॉकेशिया समाजवादी संघात्मक सोवियत गणराज्य (टीएसएफएसआर) के रूप में स्थापित हुआ। टीएसएफएसआर 1922 में सोवियत संघ में शामिल हो गया।

अक्टूबर क्रान्ति के पश्चात रूसी समाजवादी संघात्मक सोवियत गणराज्य (आरएसएफ़एसआर) के अस्तित्व में आने के साथ स्वायत्त इकाइयों के रूप में कुछ ऐसी राष्ट्रीयताएँ और राष्ट्र भी शामिल हुए थे जो या तो अपनी निश्चित क्षेत्रीयता के अभाव के चलते या फिर अपने बेहद छोटे आकार, संख्या और बिखराव के चलते एक अलग स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्य के गठन के लिए जीवक्षम नहीं थे। इसलिए इन्हें आरएसएफ़एसआर के भीतर स्वायत्त इकाइयों के रूप में मान्यता दे दी गयी। ये इकाइयां सोवियत संघ के भीतर भी मौजूद रही। ये स्वायत्त इकाइयां गणराज्य, ऑब्लास्ट (क्षेत्र) और ऑक्रुग्सा (जिला) के रूप में मौजूद थीं। सोवियत संघ के गठन के बाद 1923 में नागोर्नो काराबाख स्वायत्त क्षेत्र (ऑब्लास्ट) अस्तित्व में आया जो ट्रांसकॉकेशिया समाजवादी संघात्मक गणराज्य के मातहत था। 1936 में चूंकि अज़रबैजान समाजवादी सोवियत गणराज्य स्वतंत्र तौर पर सोवियत यूनियन में शामिल हुआ, काराबाख का स्वायत्त ऑब्लास्ट इसके मातहत था। 1954 में पूँजीवादी पुर्नस्थापना हुई और 1991 में सोवियत संघ भंग हो गया लेकिन 80 के दशक में ही सोवियत संघ के तमाम देशों में टकराहट होनी शुरू हो गई थी। इसका एक उदाहरण अज़रबैजान समाजवादी सोवियत गणराज्य और आर्मेनिया समाजवादी सोवियत गणराज्य थे। इस टकराव के केन्द्र में काराबाख का क्षेत्र था। 1988 में जनमतसंग्रह में काराबाख की जनता ने आर्मेनिया में शामिल होने की इच्छा जताई जिसके बाद से अज़रबैजान और आर्मेनिया के बीच झड़प शुरू हो गई। 1991 में अज़रबैजान समाजवादी सोवियत गणराज्य ने काराबाख के ऑब्लास्ट की स्वात्तयता तानाशाहाना फरमान के जरिये खत्म कर दी। इसके जवाब में काराबाख के नेतृत्व ने खुद को स्वतंत्र गणराज्य घोषित किया। यह झड़पें 1992-1994 तक दोनों देशों के बीच चले पहले काराबाख युद्ध में तब्दील हो गईं जिसका परिणाम अज़रबैजान की हार में हुआ। इस युद्ध में लाखों अज़ेरी मूल के लोग आर्मेनिया छोड़ अज़रबैजान गए जबकि लाखों अर्मेनी मूल के लोग अज़रबैजान से विस्थापित हुए। दोनों तरफ़ नस्ल और राष्ट्र के नाम पर खून बहा। अन्तत: अर्मेनी सेना की मदद से नार्गोर्नो काराबाख में एक स्वायत्त सरकार बनी जो आर्मेनिया के मातहत थी और साथ ही अज़रबैजान के एक हिस्से पर भी आर्मेनिया ने कब्ज़ा कर लिया। पूँजीवादी व्यवस्था की अमीरी और गरीबी की खाई, भुखमरी को ढांपने के लिए दोनों देश ही राष्ट्रवाद की आग भड़काते रहे हैं और इसका खामियाजा दोनों देशों की जनता और काराबाख की जनता को उठाना पड़ा है। यह छोटा सा क्षेत्र लम्बे समय से टकराव देखता रहा है और यहां दमन के चक्के के बीच ही जनता लम्बे समय से जी रही है। केवल समाजवादी रूस में जनता ने इस टकराहट का अंत देखा था।

मौजूदा युद्ध मूलत: अज़रबैजान और तुर्की की आकांक्षाओं के चलते हुआ। रूस अभी भी इन देशों पर अपना साम्राज्यवादी दबदबा बरकरार रखना चाहता है। जहां मध्य पूर्व साम्राज्यवाद के अन्तंरविरोधों की गांठ बना हुआ है वहीं दक्षिणी कॉकेशिया भी ऐसे ही साम्राज्यवादी ताकतों के बीच रस्साकस्सी का क्षेत्र बन रहा है जहां फिलहाल रूस का दबदबा है परन्तु जिसमें तुर्की भी जगह बनाना चाहता है।

यूक्रेन से लेकर चेचेनिया और अब आर्मेनिया-अज़रबैजान में जारी टकराहटों का फायदा अन्य साम्राज्यवादी ताकतों ने उठाकर रूस के वर्चस्व को चुनौती देने का प्रयास किया है। 1994 से ही काराबाख हेतु शान्ति वार्ता करवाने वाले देशों में अमेरिका, फ्रांस और रूस रहे हैं, हालांकि इसमें मुख्य भूमिका रूस की रही है।

आर्मेनिया-अज़रबैजान युद्ध में भी यह शान्ति वार्ता रूस ने करवाई है और उसने काराबाख में अपनी दखल बना ली है।

नार्गोनो काराबाख एक ऐसा नासूर है जो सोवियत रूस के बिखराव के बाद से सालों से रिसता रहा है। अज़रबैजान की राजनीति का बड़ा मुद्दा ही आर्मेनिया से 1992-94 में हारे क्षेत्र को वापस लेने का रहा है। 1990 के बाद से ही तुर्की ने अज़रबैजान के साथ एक करीबी रिश्ता बनाया है। अज़रबैजान तेल और गैस का निर्यात सभी बड़े देशों को करता है। 2020 में तुर्की ने अज़रबैजान के साथ युद्ध में साथ दिया और युद्ध के बाद अज़रबैजान में आयोजित विजय रैली में भी एर्गोदेन ने भागीदारी की। वहीं रूस की आर्मेनिया के साथ करीबी सम्बन्ध हैं। आर्मेनिया में रूस का मिलीटरी बेस भी है। परन्तु रूस इस युद्ध में यह कहकर निष्क्रिय रहा कि काराबाख का मसला सीधे आर्मेनिया का मसला नहीं है। नार्गोनो काराबाख के एक हिस्से और उससे सटे क्षेत्र में अज़रबैजान का सैन्य नियंत्रण हो जाने के बाद रूस ने युद्ध विराम करवाने के लिए दबाव बनाया जिसे अज़रबैजान ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। इस समय नार्गोनो काराबाख क्षेत्र में रह रही जनता के हिस्से में कितने युद्ध हैं यह तो आगामी भविष्य तय करेगा परन्तु यह मसला भी तब तक हल नहीं हो सकता है जबतक कि आर्मेनिया या अज़रबैजान में समाजवादी सत्ता स्थापित न हो।

कुल मिलाकर कहें तो ट्रांसकॉकेशिया भी साम्राज्यवादी ताकतों के बीच युद्ध का 'थ्येटर ऑफ वॉर' बन रहा है। रूस के पिछवाड़े में बाल्टिक राज्यों, कॉकेशिया और अन्य क्षेत्रों में अन्तरविरोध सोवियत यूनियन के पतन के बाद से ही जारी है जिनका फायदा साम्राज्यवादी ताकतों ने उठाया है। हालांकि रूस की सत्ता ने इस क्षेत्र में अपना साम्राज्यवादी दबदबा बरकरार रखा है। इस क्षेत्र में ये टकराहटें रह-रहकर उभरती रहेंगी और बड़े और छोटे साम्राज्यवादी देशों के बीच छाया युद्ध के रूप में अभिव्यक्त होंगी।

गतिविधियाँ

26 नवम्बर की देशव्यापी हड़ताल के दौरान जगह-जगह कार्यक्रम

मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियों, श्रम कानूनों में संशोधन व कर्मचारियों के अधिकारों पर हमलों के ख़िलाफ़ देशव्यापी हड़ताल के दौरान दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की टीमों ने दिल्ली, उत्तराखंड, लखनऊ, मुम्बई, इलाहाबाद, पटना, गोरखपुर, अम्बेडकरनगर, रोहतक, नरवाना समेत देश के अलग-अलग हिस्सों में हो रहे प्रदर्शनों में भागीदारी की। 26 नवम्बर की हड़ताल के मद्देनज़र कई दिनों पहले से ही तैयारियों का सिलसिला शुरू कर दिया गया था। पूर्वी उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों में कार्यालयों, गाँवों, गोरखपुर के औद्योगिक इलाकों में नुक्कड़ सभाएं और नुक्कड़ नाटक करते हुए लोगों को 26 नवम्बर की हड़ताल के मद्देनज़र लामबन्द किया गया। इलाहाबाद के पीडब्ल्यूडी कार्यालय पर नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ताओं ने सभा किया तथा जिलाधिकारी कार्यालय तक जुलूस निकालकर ज्ञापन सौंपा। शक्ति भवन, लखनऊ पर हुई सभा में लालचन्द्र ने कहा कि पिछले तीन दशकों के दौरान उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के लागू होने के साथ ही मज़दूरों-कर्मचारियों के अधिकार एक-एक करके छीने जाते रहे हैं। मोदी सरकार ने इन हमलों को और तेज़ कर दिया है और रहे सहे श्रम क़ानूनों को भी ख़त्म किया जा रहा है। एकजुट होकर हम इसका विरोध न कर सकें इसलिए नकली मुद्दों को हवा दी जा रही है और कभी मंदिर-मस्जिद, कभी लव जिहाद, जाति-धर्म जैसे नारे उछालकर लोगों में फूट डाली जा रही है।

लखनऊ में नौजवान भारत सभा और स्त्री मुक्ति लीग के नेतृत्व में प्रधानाचार्या के कार्यालय का घेराव

लखनऊ के खदरा इलाक़े में स्थित डीनोवो पब्लिक स्कूल द्वारा 'शिक्षा का अधिकार' (आरटीई) के तहत भर्ती छात्रों से परीक्षा शुल्क वसूलने के विरोध में नौजवान भारत सभा और स्त्री मुक्ति लीग के नेतृत्व में अभिभावकों ने स्कूल की प्रधानाचार्या के कार्यालय का घेराव किया। ग़ौरतलब है कि कोरोना महामारी की सबसे बुरी मार मेहनतकश आबादी पर पड़ रही है। केन्द्र में बैठी मोदी सरकार नयी शिक्षा नीति के माध्यम से गरीबों को स्कूलों कॉलेजों से दूर धकेलने का इंतजाम कर चुकी है। वही प्राइवेट स्कूल भी इस महामारी का फायदा उठाकर ऑनलाइन शिक्षा ने नाम पर अभिभावकों को ठग रहे है। आरटीई के तहत भर्ती छात्रों से किसी भी प्रकार की फ़ीस लेने का कोई प्रावधान नहीं है लेकिन परीक्षा के नाम पर स्कूल का प्रबन्धन आरटीई के तहत भर्ती छात्रों को भी लूटने पर आमादा था।। जो छात्र परीक्षा शुल्क नहीं दे रहे थे उन्हें परीक्षा के प्रश्नपत्र और उत्तर पुस्तिका नहीं दिये जा रहे थे। स्कूल प्रबन्धन का यह कहना था कि चूँकि सरकार की ओर से इस साल पैसे नहीं आए इसलिए वे छात्रों से ले रहे हैं। पिछले कई दिनों से कुछ अभिभावक स्कूल प्रबन्धन से आरटीई छात्रों से परीक्षा शुल्क न लेने का अनुरोध कर रहे थे, लेकिन स्कूल प्रबन्धन बिना फ़ीस लिए छात्रों को परीक्षा में शामिल होने देने से इन्कार कर रहा था। इसके बाद अभिभावकों ने इलाक़े के जनकार्यों में सक्रिय स्त्री मुक्ति लीग और नौजवान भारत सभा से सम्पर्क किया। स्त्री मुक्ति लीग और नौजवान भारत सभा के नेतृत्व में अभिभावकों ने स्कूल की प्रधानाचार्य का घेराव

किया और इस अवैध वसूली को तत्काल बन्द करके आरटीई के छात्रों को बिना किसी परीक्षा शुल्क के परीक्षा में शामिल करके प्रश्नपत्र देने की माँग की। पहले तो प्रधानाचार्य ने ना-नुकुर करते हुए कोरोना काल में स्कूल के आर्थिक संकट की दुहाई दी। लेकिन बाद में जनदबाव के आगे उसे झुकना पड़ा और छात्रों को बिना किसी परीक्षा शुल्क के प्रश्न पत्र और उत्तर पुस्तिका देने पर मजबूर होना पड़ा।

शिक्षा-रोज़गार अधिकार अभियान, उत्तर प्रदेश की ओर से अभियान जारी

सबको एकसमान और नि:शुल्क शिक्षा एवं रोज़गार की गारण्टी सहित दस सूत्रीय माँगों वाले को लेकर उत्तर प्रदेश के विभिन्न हिस्सों मे चलाये जा रहे शिक्षा-रोजगार अधिकार अभियान के तहत चित्रकूट, मऊ, इलाहाबाद, गोरखपुर, अम्बेडकरनगर, गाजीपुर, उरई आदि जिलों में सभाएं, बैठकें, घर-घर सम्पर्क किया जा रहा है। नौजवान भारत सभा की ओर से चित्रकूट लोधौरा और बरेठी, बरिया, रामनगर, खंदेरवा और भैरमपुर तथा मऊ जिले के नवापुरा (बड़ी कम्हरिया) आदि गाँवो में सभा और नुक्कड़ नाटक आयोजित कर लोगों को संगठित होने की अपील की गयी। इन गाँवों में रहने वाली बड़ी आबादी भूमिहीन या नाममात्र की जमीन की मालिक है। ज्यादातर लोग दूसरों के खेतों पर मज़दूरी करने, निर्माण आदि के कामों में मज़दूरी करने या बाहर जाकर काम करने वाले हैं। इन कामों में लगे लोगों को बहुत कम दाम (150-250 रुपए) पर काम करके जीवन-यापन करना पड़ता है। नौभास के कार्यकर्ताओं ने रोज़गार के संकट, महँगी होती शिक्षा, चिकित्सा सुविधा की समस्या और कम मज़दूरी के सवाल पर विस्तार से बातचीत रखी। साथ ही मौज़ूदा किसान आन्दोलन के चरित्र पर विस्तार से चर्चा की। ज़्यादातर गरीबों को एमएसपी की लड़ाई के जनविरोधी चरित्र को समझने में जरा भी दिक्कत नहीं हुई क्योंकि इनमें से बहुत बड़ी आबादी, जो मजदूरी करके जीवन यापन करती है और खाद्य पदार्थों की बढ़ती कीमतों की मार झेल रही है, उसके लिए अनाज की कीमतों में वृद्धि और बरबादी लेकर आएगी। साथ ही फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा आवश्यक वस्तु अधिनियम में बदलाव के प्रतिरोध पर बातचीत की गई।

काकोरी एक्शन के शहीदों की विरासत ज़िन्दाबाद!

काकोरी एक्शन के शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक़ उल्ला खाँ, रोशन सिंह और राजिन्द्रनाथ लाहिड़ी के 93वें शहादत दिवस पर दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की दिल्ली, हरियाणा, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार आदि राज्यों की टीमों द्वारा प्रभात फ़ेरी, नुक्कड़ सभाओं, क्रान्तिकारी गीतों, विचार गोष्ठी, पोस्टर-पुस्तक प्रदर्शनी, आदि माध्यमों से इन क्रांतिकारियों के विचारों से लोगों को परिचित कराया गया।

दिल्ली के शाहबाद-डेरी, खजूरी में काकोरी एक्शन के शहीदों के 93वें शहादत दिवस पर 'अवामी एकता अभियान' के तहत 'नौजवान भारत सभा' द्वारा जुलूस निकाला गया और नुक्कड़-सभाएं की गयी। 'नौजवान भारत सभा' करावलनगर, दिल्ली इकाई द्वारा काकोरी एक्शन के अमर शहीदों को याद करते हुए बीते 19 दिसम्बर को करावल नगर इलाके में 'साम्प्रदायिक फ़ासीवाद विरोधी अभियान' चलाया गया। जिसके तहत जगह-जगह नुक्कड़ सभाएं व पर्चा वितरण किया गया।दिल्ली के अलीपुर में छात्रों- नौजवानों के साथ काकोरी एक्शन के क्रांतिकारियों के शहादत दिवस (17 तथा 19 दिसंबर) के अवसर पर एक विचार - विमर्श किया गया।

पटना के गोसाईं टोला में नौजवान भारत सभा व दिशा छात्र संगठन द्वारा शहीद यादगारी जुलूस का आयोजन किया गया। गोसाईं टोला मोड़ से शुरू होकर यह जुलूस इलाके की गलियों से हो कर, सब्जी मंडी से होते हुए शहीद भगतसिंह पुस्तकालय के समीप सम्पन्न हुआ। जहां एक नुक्कड़ सभा भी आयोजित की गई। इस सभा को संबोधित करते हुए नौभास के आशीष ने काकोरी एक्शन के शहीदों के जीवन और विरासत पर बातचीत रखी। उन्होंने कहा कि जिस भारत का सपना हमारे शहीदों ने देखा था, वह आज तक मयस्सर नहीं हुआ है। उनके समतामूलक समाज के सपने को पूरा करने के लिए आज हमें एकजुट होना होगा। साथ ही आज देश मे शासन कर रही साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताकतें लगातार जनता को जाति-धर्म के नाम पर बांटने की कोशिशें कर रही हैं। इनका भी हमें अपनी कौमी एकता दिखाकर माकूल जवाब देना होगा। इस सभा को बिगुल मज़दूर दस्ता के देबाशीष ने भी संबोधित किया। इस जुलूस में कई लोगों ने भागीदारी की। साथ ही पूरे जुलूस के दौरान इलाके में इससे संबंधित पर्चे भी बांटे गए।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में इस मौके पर चलाये जा रहे "सांप्रदायिक फ़ासीवाद विरोधी अभियान" के तहत गोरखपुर के असुरन चौक से जुलूस निकालकर बिछिया जेल स्थित रामप्रसाद बिस्मिल के प्रतिमा पर श्रद्धांजलि सभा की गयी। गोरखपुर के बिछिया, जाफ़रा बाज़ार आदि इलाकों में भी काकोरी एक्शन के शहीदों की याद में कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। इलाहाबाद स्थित रोशन सिंह के शहादत स्थल (वर्तमान स्वरूप रानी अस्पताल) पर सभा की गई। दिशा और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने विभिन्न जन संगठनों द्वारा आयोजित संयुक्त कार्यक्रम और अधिवक्ता मंच के कार्यक्रम में भी भागीदारी की और बात रखी। शाम को दरियाबाद में नुक्कड़ सभा करके लोगों का आह्वान किया गया कि मौजूदा फासीवादी निजाम के खिलाफ संघर्ष संगठित करें और इस लूट पर टिकी व्यवस्था को ध्वस्त करके इन क्रांतिकारियों के सपनों के समाज का निर्माण करने के लिए आगे आएं। इलाहाबाद में सभा को संबोधित करते हुये नौजवान भारत सभा के केंद्रीय परिषद के सदस्य प्रसेन ने कहा कि आज देश एक भयंकर उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा है। साम्प्रदायिक फासीवादी भाजपा सरकार व संघ परिवार अपने एजेण्डे को थोपकर मेहनतकश

जनता व प्रगतिशील तथा जनवादी ताकतों पर कहर बरपा रहे हैं। देश में मेहनतकश दलित आबादी और धार्मिक अल्पसंख्यक आबादी पर कट्टरपंथी-जातिवादी ताकतों के हमले आम हो चले है। साथ ही जनता में नफरत-अफवाहें फैलाकर मॉब-लिंचिंग, लव जिहाद के नाम पर कट्टरता, CAA-NRC जैसे कानूनों से देशभर में बँटवारा पैदा किया जा रहा है। धार्मिक कट्टरता व जातिवादी उन्माद पैदा करने का मकसद एकदम साफ है — मँहगी होती शिक्षा, बेरोज़गारी, महंगाई, इलाज़ की समुचित व्यवस्था के अभाव से परेशान मेहनतकश अवाम का गुस्सा मोदी सरकार और इस लूट पर टिकी हुई पूँजीवादी मशीनरी पर न केंद्रित हो जाय। इसीलिए फ़ासीवादी ताकतों के लिए ज़रूरी है कि वह देश के मजदूरों, निम्नमध्यवर्ग और गरीब किसानों के सामने एक नकली दुश्मन खड़ा करें। आज़ादी आन्दोलन के दौरान अंग्रेज अपनी "फूट डालो और राज करो" की नीतियों के द्वारा हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को लगातार बढ़ावा दे रहे थे। उस समय हमारे ये क्रान्तिकारी अपने जीवन से मिसालें कायम कर रहे थे। छात्र-मज़दूर-कर्मचारी की व्यापक एकता बनाकर शिक्षा-रोज़गार-चिकित्सा आदि की लड़ाई लड़ते हुए अपने इस संघर्ष को क्रान्तिकारी परिवर्तन के संघर्ष के साथ जोड़ने होगा। यही इन क्रान्तिकारियों को असली श्रद्धांजलि होगी।

लखनऊ के खदरा इलाक़े में नौजवान भारत सभा और स्त्री मुक्ति लीग की ओर से काकोरी के शहीदों की कुर्बानियों को याद किया और आज के दौर में उनके विचारों की प्रासंगिकता पर बात की गयी तथा क्रान्तिकारी गीतों की भी प्रस्तुति की गयी।

नौजवान भारत सभा की ओर से "सांप्रदायिक फ़ासीवाद विरोधी अभियान" के तहत मऊ के डीसीएसके कॉलेज मोड़ पर और गाजीपुर के अलावलपुर अफगा में पोस्टर प्रदर्शनी लगाई गई और व्यापक पर्चा वितरण किया गया।

नौजवान भारत सभा-चित्रकूट इकाई की ओर से "सांप्रदायिक फ़ासीवाद विरोधी अभियान" के तहत आज रामनगर, बरेठी, लोधौरा गांव में साइकिल मार्च निकालकर जगह-जगह सभाएं कर लोगों को काकोरी एक्शन के क्रान्तिकारी विरासत से परिचित कराया गया। नौजवान भारत सभा की ओर से उरई के गांधी चबूतरा, जालौन रोड, जिलाधिकारी कार्यालय के पास और चकजगदेवपुर गाँव में पोस्टर प्रदर्शनी लगाई गई और पर्चे वितरित किए गए। मऊ के नवापुरा गाँव में और गाजीपुर के अलावलपुर अफ़गा में भी नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने पोस्टर प्रदर्शनी लगाकर लोगों को इन क्रान्तिकारियों की विरासत से परिचित कराया।

काकोरी एक्शन के शहीदों के शहादत के 93वीं वर्षगाँठ के अवसर पर हरियाणा के गांव सिमला में नौजवान भारत सभा द्वारा एचआरए के शहीदों की क्रांतिकारी विरासत से बच्चों को परिचित कराया गया। 19 दिसम्बर को शहीदेआज़म भगतसिंह लाइब्रेरी – रोहतक में काकोरी एक्शन के शहीदों की याद में कार्यक्रम किया गया। शिक्षा सहायता मण्डल के बच्चों के बीच हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोशिएशन (एचआरए) की विरासत के साथ-साथ अशफ़ाक़-बिस्मिल की दोस्ती और अवामी एकजुटता के उनके सन्देश पर भी बातचीत की गयी। इसके बाद बच्चों के साथ रिहायशी इलाके में भी काकोरी एक्शन के शहीदों के सन्देश को लेकर जाया गया।

नौजवान भारत सभा व बिगुल मज़दूर दस्ता द्वारा काकोरी के शहीदों के शहादत दिवस पर चलाये जा रहे आवामी एकता अभियान के तहत हरिद्वार के रोशनाबाद में परिचर्चा व हेतमपुर में सभा की गयी। इन कार्यक्रमों में काकोरी के शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खान, रोशन सिंह व राजेन्द्र लाहिड़ी के जीवन व विचारों के अलावा आज के हालात और इस हालत को बदलने के रास्ते के बारे में विस्तार से बात किया गया। एचआरए से जुड़े ये चारों क्रांतिकारी 1917 की रूसी क्रांति से प्रभावित थे। निश्चित तौर पर ये क्रांतिकारी भविष्य के समाज का पूर्णरूपेण खाका तो नहीं तैयार कर सके थे लेकिन यह समझ गए थे कि केवल अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ ही नहीं बल्कि देशी लूटेरों के ख़िलाफ़ भी लड़ना पड़ेगा। यह बात इन क्रांतिकारियों की अगली पीढ़ी (भगतसिंह व एचएसआरए के उनके साथी) और ज़्यादा स्पष्टता से समझ चुकी थी। 1947 के बाद से देशी सत्ताधारियों द्वारा खेले जा रहे साम्प्रदायिक खूनी खेल के विरूद्ध रामप्रसाद बिस्मिल अशफाक उल्ला खां की दोस्ती की मिसाल को जन-जन तक पहुचाने की ज़रूरत पहले से कहीं ज़्यादा है।

नौजवान भारत सभा, पुणे की ओर से इस अवसर पर 133 कॉलोनी दांडेकर पुल इलाके में प्रभात फ़ेरी निकली गयी।

गतिविधियाँ

छात्रों युवाओं ने भरी हुंकार समान शिक्षा सबको रोज़गार

पटना में 'वादा न तोड़ो अभियान' और 'रोज़गार अधिकार महाजुटान' की रिपोर्ट

बिहार संवाददाता

इस बार के बिहार विधान सभा चुनाव में रोजगार एक मुख्य मुद्दा बनकर उभरा था और हर पार्टी द्वारा रोजगार के मुद्दे पर बड़े-बड़े चुनावी वादे किये गए थे। उनमें से नितीश की गठबंधन सरकार ने 19 लाख रोजगार का वादा किया था। इसी के मद्देनज़र बिहार में 'वादा न तोड़ो अभियान' की शुरुआत की गयी जिसमें कि सरकार से यह माँग की गयी कि वह 19 लाख रोजगार कैसे देगी इसकी रूप रेखा जनता के सामने प्रस्तुत करे। इसके अलावा इस अभियान में राज्य स्तर पर भगतसिंह रोजगार गारंटी क़ानून बनाने की माँग उठाई गयी व और भी अन्य मांगें शामिल की गयी। यह अभियान पूरे बिहार के कई जिलों में चलाया गया। मुख्य रूप से बिहार की राजधानी पटना में यह अभियान चलाया गया। इसके अलावा गया और जेहानाबाद के कुछ गाँव में भी यह अभियान ले जाया गया। 'वादा ना तोड़ो अभियान' के तहत दिहाड़ी मजदूरों,छात्रों,नौजवानों, घरेलू कामगार महिलाओं के बीच जाया गया। इस अभियान में मुख्य रूप से 19 लाख रोजगार के वादे के साथ ही रोजगार की गारंटी हेतु क़ानून बनाने की माँग की गयी थी। यह माँग असल में छात्र-कर्मचारी-कामगार-मजदूर सबकी माँग है। इसलिए सबसे पहले हम भगतसिंह रोजगार गारंटी क़ानून की माँग की अहमियत पर चर्चा करेंगे ।

देश का संविधान हरेक नागरिक को सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार देता है। परन्तु, वास्तव मे यह अधिकार तभी ही फलीभूत हो सकता है, जब लोगों के पास रोजगार हो व सम्मानजनक मेहनताना भी मिले। यह सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह देश के नागरिकों के लिए रोजगार के अवसर पैदा करें। पर यहाँ हालात ये हैं कि रोजगार के प्रश्न से राज्य व केंद्र सरकार दोनो ही अपने हाथ खींच रही है। भाजपा के नेतृत्व वाली मौजूदा केंद्र सरकार, तमाम सरकारी उपक्रमों (रेलवे, बीएसएनएल आदि) को बेच रही है व जो बची-खुची सरकारी नौकरियाँ है, उन्हें भी खत्म कर रही है या ठेके पर दे रही है। असंगठित क्षेत्र मे काम करने वाली श्रमिकों की एक बड़ी आबादी पर भी अनिश्चितता की तलवार लटकती रहती है। एक तो उनके हितों की रक्षा के लिए पहले से ही कम क़ानून है, जो शायद ही धरातल पर कार्यान्वित होते हैं, पर अब तो मालिकों की जमात की सेवा करनी वाली यह सरकार उन क़ानूनों को भी खत्म कर रही है।

बिहार की बात की जाये तो यहाँ बेरोजगारी और भी विकराल रूप धारण कर रही है। पिछले वर्ष आयी CMIE की रिपोर्ट के मुताबिक बिहार की बेरोजगारी दर 10.2 % है । लॉकडाउन के वक़्त अप्रैल-मई में तो यह 46% पहुँच गया था। बड़ी संख्या में यहाँ की काम करने योग्य आबादी को रोजगार की तलाश मे बाहरी राज्यों की तरफ पलायन करना पड़ता है। किसी भी क्षेत्र में काम करने वाली आबादी चाहे वह दिहाड़ी मजदूर हो, कामगार महिलाएँ

हों या छात्र-नौजवान आबादी हो, सभी के ऊपर अनिश्चितता की तलवार लटकी रहती है और किसी के भी पास साल के 365 दिन पक्के रोजगार की गारंटी नहीं है। इसी अनिश्चितता को ख़त्म करने के लिए रोजगार गारंटी क़ानून बनाने की माँग एक जरुरी माँग है। यह माँग असल में इस पूँजीवादी व्यवस्था का पर्दाफाश करने का काम भी करती है। इसलिए यह माँग राष्ट्रीय स्तर पर विगत चार साल से बिगुल मजदूर दस्ता, नौजवान भारत सभा व दिशा छात्र संगठन द्वारा उठाया जा रहा है। पूरे देश में भगतसिंह राष्ट्रीय रोजगार गारंटी क़ानून अभियान चलाया जा रहा है। इस अभियान के तहत वर्ष 2018 व 2019 मे दिल्ली में रोजगार अधिकार रैली का आयोजन किया गया था, जिसमे देश भर से हज़ारों की तादाद मे छात्र-युवा, असंगठित मज़दूर, आंगनबाड़ी कर्मी रोजगार संबन्धित अपनी मांगों को लेकर शामिल हुये थे जहां केंद्र सरकार के समक्ष पूरे देश में रोजगार गारंटी क़ानून लागू करने की मांग की गयी थी। भगतसिंह रोजगार गारंटी क़ानून की मांग को राज्य स्तर पर भी पूरे देश के अलग-अलग राज्यों में उठाया जा रहा है। और इस बार बिहार में चल रहे 'वादा ना तोड़ो अभियान' के तहत भी रोजगार गारंटी क़ानून बनाने की माँग एक प्रमुख माँग के बतौर रखी गयी।

चूँकि इस बार बिहार विधान सभा चुनाव मे रोजगार के मुद्दे ने तूल पकड़ा था। खुद नीतीश कुमार भी इस सवाल पर घिरते नज़र आ रहे थे, आनन फानन में भाजपा – जदयू गठबंधन ने भी राज्य की जनता को 19 लाख रोजगार देने का वादा करना पड़ा। हालांकि यह बात भी घोषित सत्य है कि बिहार मे बेरोजगारी लगभग पिछले डेढ़ दशक मे सबसे ज्यादा जदयू-भाजपा के शासनकाल मे ही बढ़ी है। बेरोजगारी की मार सबसे ज्यादा छात्रों – युवाओं, दिहाड़ी मजदूरों व घरेलू कामगारों पर ही पड़ी, गत वर्ष लगे लॉकडाउन ने यह दिखा भी दिया।

दिहाड़ी निर्माण मज़दूरों की एक बड़ी आबादी बिहार में रहती है। ज्यादातर लोग ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर आते है, यहां शहर मे दड़बों जैसे किराये के लॉजों में नारकीय हालात में रहते है। ये मजदूर हर सुबह शहर के अलग-अलग हिस्सों में रोजगार की तलाश में लेबर चौकों पर खड़े होते है। परंतु माह में औसतन 12 से 15 दिन ही इन्हें काम मिल पाता है, कोरोना संक्रमण के कारण हुए लॉकडाउन के बाद अब तो इन्हें बमुश्किल 7 से 8 दिन ही काम मिल पाता है। साल के सारे दिन रोजगार की गारंटी नहीं होने से इन मजदूरों को कई दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इनके लिए न्यूनतम मज़दूरी भी सरकार द्वारा तय की गई है, परंतु शायद ही न्यूनतम मजदूरी की दर पर इनको भुगतान किया जाता है। लॉकडाउन के दौरान ऐसे भी मामले आये जब इनके काम छूट गए व इनके नियोक्ताओं ने इन्हें इनका बकाया पैसा भी नहीं दिया। निर्माण मज़दूरों का लेबर कार्ड बनाने व पंजीकरण का भी प्रावधान है, पर अधिसंख्य मजदूरों के पास वह भी नहीं है। अगर कोई मज़दूर काम के दौरान घायल हो जाये या कभी बीमार ही पड़ जाए तो उनको अपना इलाज कराना भी दूभर हो जाता है। उन्हें किसी भी तरह की स्वास्थ्य बीमा व पेंशन सुविधा भी प्राप्त नहीं हो पाती है।

कुछ ऐसी ही हालत घरेलू कामगार महिलाओं की भी है। सिर्फ़ राजधानी पटना में हजारों की तादाद में ऐसी महिलाएं है, जो दूसरों के घरों में झाड़ू - पोछा, बर्तन - कपड़े धोने व खाना बनाने का काम करती है। अकसर इन घरेलू कामगार महिलाओं को शोषण व अपमान दोनों का सामना करना पड़ता है। अव्वल बात तो ये कि न तो केंद्रीय स्तर पर और न ही राज्य स्तर पर ऐसा ठोस क़ानूनी ढांचा मौजूद है, जिससे इन घरेलू कामगारों के हितों की रक्षा हो सके। वर्ष 2008 में घरेलू कामगार क़ानून को उस वक़्त की केंद्र सरकार द्वारा प्रस्तावित किया गया था, परंतु आज तक यह अधर में ही है। मौजूदा केंद्र सरकार ने भी वर्ष 2018 में घरेलू कामगारों के लिए एक राष्ट्रीय नीति बनाने के बात कही थी, परन्तु लगभग तीन साल बीतने के बावजूद भी इस दिशा में अभी तक कोई सकारात्मक पहल नहीं ली गयी है। बिहार सरकार के श्रम विभाग ने भले ही घरेलू कामगारों के लिए विभिन्न तरह के कामों के लिए न्यूनतम वेतन तय किया है, परन्तु शायद ही घरेलू कामगारों के नियोक्ताओं द्वारा इसका पालन किया जाता है। लॉकडाउन के दौरान कई घरेलू कामगार महिलाओं को काम से निकाल दिया गया, कइयों को तो उनके बकाया पैसे भी नहीं मिले। ऐसे न जाने कितने उदाहरण है जो ये सिद्ध करते है इन घरेलू कामगारों के लिए 365 दिन रोजगार की गारंटी होना कितना जरुरी है।

बिहार मे छात्रों-युवाओं की बड़ी आबादी है, जो एक अदद नौकरी की बाँट जोहते हुये न जाने कितने वर्षों से प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रही है। वैसे तो पूरे देश मे सरकारी नौकरियों के लिए होने वाली परीक्षाएं व उनके परिणाम निकलने व बहाली पूरी होने में अतिरेक समय लगना, एक सामान्य बात बन चुकी है। परंतु बिहार के संदर्भ में नियुक्ति प्रक्रियाओं में यह समस्या बहुत ज्यादा गंभीर है। वर्ष 2015 में बीएसएससी की स्नातक स्तरीय बहाली के लिए प्राथमिक परीक्षा आयोजित हुई थी। आज पांच वर्ष के बाद भी यह प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है। यही हाल सिविल इंजीनियर की परीक्षा के साथ भी हुआ है, वर्ष 2017 में सिविल इंजीनियर की बहाली निकली थी तब से लेकर आज तक लगभग 4 साल बीत चुके है, पर अभी तक बहाली प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हुई है। वही पिछले साल जनवरी में आयोजित एसटीईटी (STET) परीक्षा को धांधली के कारण रद्द घोषित किया गया, उसके बाद फिर से सितंबर में यह परीक्षा ली गयी, परन्तु अभी तक इसका परिणाम नहीं निकला है। ऐसे और भी कई उदाहरण है। अक्सर इन समस्याओं के खिलाफ अभ्यर्थियों का गुस्सा भी फूटता है, वे विरोध प्रदर्शन करते हैं, पर सरकार के कानों में जूं तक नहीं रेंगती है। छात्र अपने जीवन मे कई वर्ष तैयारी करते हुए बिता देते है, परन्तु उन्हें लंबे इंतेज़ार व उपेक्षा के अलावा कुछ नहीं मिलता है। इसलिए छात्रो के लिए रोजगार की माँग और सारे सरकारी पदों को जल्द भरने की माँग भी इस 'वादा ना तोड़ो' अभियान में शामिल किया गया था।

इन तमाम तबकों के बीच एक आम माँग रोजगार गारंटी क़ानून की माँग थी, उसके अलावा हर तबके की कुछ विशिष्ट माँगों को भी ज्ञापन में शामिल किया गया।

इस अभियान की कुछ मुख्य माँगें इस प्रकार थीं -

1) 'सबको स्थायी रोजगार व सभी को समान व नि:शुल्क शिक्षा' के अधिकार को संवैधानिक संशोधन कर मूलभूत अधिकारों में शामिल करो।

2) बिहार राज्य के स्तर पर जिन भी पदों पर परीक्षाएँ हो चुकी है उनमे उत्तीर्ण उम्मीदवारों को तत्काल नियुक्तियाँ दो। सभी खाली पदों को जल्द से जल्द भरो। रिक्तियाँ निकालने से लेकर नियुक्त करने का काम 6 महीने के अन्दर पूरा करो।

3) 'भगतसिंह रोजगार गारंटी क़ानून' पारित करो; गाँव और शहर दोनों के स्तर पर 365 दिनों के पक्के रोजगार की गारंटी दो, रोजगार ना दे पाने की सूरत में 10,000 रूपए प्रतिमाह गुज़ारे योग्य बेरोजगारी भत्ता दो।

4) ठेका प्रथा तत्काल प्रतिबंधित किया जाये।

5) सभी घरेलू कामगार महिलाओ को मजदूर का दर्जा दिया जाये । सरकार द्वारा तय न्यूनतम मजदूरी के दर से उन्हें भुगतान करवाना सुनिश्चित किया जाये । इनके लिए सामाजिक सुरक्षा के अधिकार जैसे पी.एफ़., ड्रग.एस.आई., लेबर कार्ड आदि दिए जायें।

6) दिहाड़ी मजदूरों के लिए भी न्यूनतम मजदूरी तय की जाये और उसी मजदूरी पर भुगतान सुनिश्चित करवाया जाए। इसके अलावा उनके लिए भी पी.एफ़., ई.एस.आई., लेबर कार्ड आदि सुविधाएँ दी जायें।

रोजगार संबन्धित मांगों के अलावा इस मुहिम मे एक मुख्य मांग आवश्यक वस्तु अधिनियम में बदलाव वाले अध्यादेश को वापस करने की मांग भी थी। चूंकि यह अधिनियम जन विरोधी है व एक तरीके से खाद्यानों की जमाखोरी को क़ानूनी मान्यता देता है, इस आधिनियम से खाद्यान की कीमतें बढ़ेंगी, इस लिए इसे निरस्त करना, मेहनतकश जनता की प्राथमिक मांग है।

इन माँगों को लेकर राजधानी के अलग-अलग इलाकों में जाया गया। मुख्य रूप से दिहाड़ी मजदूरों, कामगार माहिलाओ और छात्रों-नौजवानों की आबादी के बीच इस अभियान को चलाया गया। लेबर चौकों पर जाकर निर्माण मजदूरों के बीच प्रचार अभियान चलाया गया व उनके लॉजों मे जाकर संध्या मीटिंगे आयोजित की गयी। वहीं इलाकों मे प्रचार अभियान के दौरान मिली घरेलू महिला कामगारों के साथ भी मीटिंगे आयोजित की गयी व इस अभियान से उन्हें परिचित काराया गया। पटना के वे इलाके जैसे बाज़ार समिति, भिखना पहाड़ी जहां प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले छात्रों की बड़ी आबादी रहती है, वहाँ जाकर नुक्कड़ सभाएं की गयी व पर्चा वितरण किया गया। इसके अलावा बिहार के नालंदा, गया, जेहानाबाद के कुछ गाँव में यह अभियान चलाया गया। क़रीब डेढ़ महीने तक चले इस अभियान के तहत ऊपर लिखित मांगों पर लोगों को एकजुट कर 31 जनवरी को पटना के गर्दनीबाग में 'रोजगार अधिकार महाजुटान' किया गया।

31 जनवरी को पटना के चित्कोहरा गोलम्बर के आगे से लेकर गर्दनीबाग धरना स्थल तक एक जुलूस निकाला गया, जिसमें सैकड़ों की संख्या में लोग शामिल हुए। इसमें ज्यादातर दिहाड़ी मजदूर थे और घरेलू कामगार महिलाएं थी, इसके अलावा छात्र-युवा भी शामिल थे। यह जुलूस गर्दनीबाग धरना स्थल पर पहुंच कर धरना में तब्दील हो गया। विभिन्न वक्ताओं ने रोजगार अधिकार क़ानून की जरुरत पर विचार रखे। प्रतिनिधिमंडल के द्वारा सरकार को अपनी माँगों का ज्ञापन देने के साथ ही इन माँगों के समर्थन में जनता से जुटाए गए क़रीब 1000 हस्ताक्षर भी सरकार को सौंपे गए। इस धरने को बिगुल मजदूर दस्ता की वारुणी पूर्वा ने संबोधित करते हुए कहा कि यह सिर्फ़ एक शुरुआत भर है। रोजगार गारंटी क़ानून को पारित करने की लड़ाई एक लम्बी लड़ाई है । लेकिन जब तक यह माँग पूरी नहीं होगी जनता भी चुप नहीं बैठेगी। यदि यह सरकार अभी नहीं झुकती तो हमें और बड़े स्तर पर हर एक गाँव-कस्बो-महल्लो में इस माँग को उठाना होगा और इससे बड़े स्तर पर एकजुट होकर संघर्ष करना होगा।

इसके बाद नौजवान भारत सभा की तरफ से विवेक ने सभा को संबोधित करते हुए बताया कि न सिर्फ़ रोजगार गारंटी की माँग बल्कि इस दीर्घकालिक माँग के अलावा जो तात्कालिक माँग है उसपर हमें अपनी एकजुटता से सरकार को झुकाना होगा। इन माँगों में लेबर कार्ड,पी.ऍफ़.,इ.एस.आई.,पेंशन, न्यूनतम वेतन आदि की माँग शामिल है। इसे जल्द से जल्द पूरा करने के वादे पर सरकार को झुकाना होगा और साथ ही नितीश सरकार के 19 लाख रोजगार के वादे का हिसाब भी लेना होगा। नहीं तो हर बार सरकारें बनती हैं और अपने वादे से मुकर जाती हैं क्योंकि जनता द्वारा उन्हें उनके वादे याद नहीं दिलाये जाते। इस बार हमें यह गलती नहीं दोहरानी है । यदि इन माँगों पर जल्द ही करवाई नहीं की जाती तो हमे इससे बड़े स्तर पर एकजुट होना पड़ेगा। इसके बाद नितीश सरकार द्वारा छात्रों को किये गए वादे पर दिशा छात्र संगठन की तरफ से अजीत ने अपनी बात रखी । अंत में भारत की क्रांतिकारी मज़दूर पार्टी की तरफ से देबाशीष ने भगतसिंह रोजगार गारंटी क़ानून की माँग के समर्थन मे अपना वक्तव्य रखा। इस प्रदर्शन के दौरान सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया। सभा की समाप्ति इस प्रण के साथ की गयी कि अगर मौजूदा राज्य सरकार ज्ञापन मे लिखित मांगों पर कारवाई नहीं करती है तो निकट भविष्य मे रोजगार के प्रश्न पर फिर से इससे भी बड़े पैमाने पर सरकार को घेरा जाएगा।

वैसे तो बिहार पुलिस प्रशासन ने तानाशाही फ़रमान जारी करते हुये हाल ही में कहा है कि विरोध प्रदर्शन में शामिल होने वाले लोगो पर अगर चार्जशीट दायर होती है, तो उन्हें सरकारी नौकरियों के लिए अयोग्य करार दे दिया जाएगा। यह तानाशाहपूर्ण फ़रमान यह स्पष्ट करता है कि यह सरकार जनता में फैलते असंतोष से कितनी कितनी ज्यादा डरी हुई है व जनता को अपने हक – अधिकार के लिए एकजुट होने से रोकने के लिए तमाम तिकड़में भिड़ा रही है परंतु यह फरमान भी बेरोज़गारी के खिलाफ बिहार की जनता की लामबंदी को नहीं रोक सकता है। नितीश सरकार अपने इस फरमान से जनता की एकजुटता और उसकी ताकत को तोड़ नहीं सकती!

विरासत

आधुनिक भारत की प्रथम शिक्षिका और महान सुधारक सावित्रीबाई फुले की विरासत को आगे बढ़ाओ!

इन्द्रजीत

हम जिन समाज सुधारकों के सबसे अधिक ऋणी हैं, उनमें दो नाम ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले के भी हैं। फुले दम्पति जीवन भर जनता की सेवा में तत्पर रहे और कई मायनों में इन्होंने समाज को नया रास्ता दिखाया। महाराष्ट्र के सतारा जिले के नायगाँव में 3 जनवरी 1831 को सावित्रीबाई फुले का जन्म हुआ था। चलिए इन महान शख्सियत के बारे में थोड़ा जानते हैं और उनके कार्यों की महत्ता पर कुछ विचार करते हैं।

ज्योतिबा और सावित्रीबाई के वक्तों में हमारा देश अंग्रेजी गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। एक ओर किसानों-मज़दूरों-दस्तकारों के रूप में देश की बहुसंख्यक जनता अंग्रेजी दमन-उत्पीड़न-शोषण की शिकार थी तो दूसरी ओर बाल विवाह, सती प्रथा, जातिवाद, अन्धविश्वास, छुआछूत, धार्मिक पाखण्ड और रुढ़िवाद जैसी कुरीतियों का भी खूब बोलबाला था। तमाम जनविरोधी राजे-रजवाड़ों और जातिवादी तत्त्वों ने अंग्रेजी हुकूमत के साथ गठबन्धन कायम कर रखा था। जनता अज्ञानता और शोषण की चक्की में पिस रही थी। तात्कालिक पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था पर पूरा नियन्त्रण समाज के जतिवावी, रूढ़िवादी और सामन्ती तत्त्वों का था। आम जनता की पहुँच शिक्षा से कोसों दूर थी। स्त्रियों और तथाकथित शूद्र-अतिशूद्र जातियों का पढ़ना-लिखना तो जैसे अपराध ही माना जाता था। ज्योतिबा स्वयं इसाई मिशनरी स्कूलों में पढ़े थे तथा वे यूरोप के पुनर्जागरण-प्रबोधन जैसे आन्दोलनों और इनसे निकले समानता-स्वतन्त्रता-भाईचारे के विचारों के प्रबल समर्थक थे। अंग्रेजों ने भारत में जिस औपचारिक शिक्षा की शुरूआत की थी, उसका उद्देश्य "शरीर से भारतीय पर मन से अंग्रेज" क्लर्क पैदा करना था। इसलिए उन्होंने न तो शिक्षा के व्यापक प्रसार पर बल दिया और न ही तार्किक और वैज्ञानिक शिक्षा पर। अंग्रेजी राज के प्रशंसक से उसके कड़े आलोचक तक की फुले की विचार यात्रा को हम उनकी रचनाओं 'गुलामगिरी' से लेकर 'किसान का कोड़ा' तक में देख-समझ सकते हैं। फुले का सबसे बड़ा योगदान था जनता के लिए शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करना। फुले शासन-सत्ता को प्रार्थना पत्र सौंपने की अपेक्षा जनता की ताकत और स्वयं के प्रयासों पर अधिक भरोसा करते थे। जैसे ही उन्हें शिक्षा के महत्त्व का अहसास हुआ वैसे ही वे अज्ञानता को भगाने के महत्वपूर्ण काम में कूद पड़े। उन्होंने अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को पहले

फ़ातिमा शेख़ और सावित्रीबाई

फ़ातिमा शेख ने अपने भाई उस्मान शेख की प्रेरणा पर पढ़ना-लिखना सीखा और सावित्रीबाई फुले के कार्य में उनकी अनन्य सहयोगी बनीं। जब ज़्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले को ब्राह्मणवादी ताकतों के विरोध और दबाव के चलते अपना घर छोड़ना पड़ा तो उस्मान शेख ने अपने घर में उन्हें जगह दी और वहीं पर महिलाओं के लिए स्कूल की शुरुआत की। सावित्रीबाई फुले की तरह, फ़ातिमा शेख का तो कोई लेखन-कर्म, कविताएं, पत्र आदि नहीं मिलता है, लेकिन सावित्रीबाई फुले ने अपने पत्रों में फ़ातिमा शेख का जिक्र किया है। फ़ातिमा शेख की विरासत के उपेक्षा का शिकार होने के कारण उनके बारे में बहुत ज़्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है।

शिक्षित किया और फ़िर उन्हें भी समाज बदलाव के काम में अपने साथ जोड़ लिया। यहीं से शुरू होता है सावित्रीबाई फुले का जीवन संघर्ष जोकि उनकी अन्तिम साँस तक जारी रहा।

आज से 173 साल पहले 1 जनवरी 1848 को फुले दम्पत्ति ने महाराष्ट्र के भिड़ेवाड़ा, पुणे में लड़कियों को शिक्षित करने हेतु अपना पहला स्कूल खोला था। जैसी कि उम्मीद थी समाज की रूढ़िवादी, पितृसत्तावादी और जातिवादी ताकतों ने इसका कड़ा विरोध किया। ये लोग नहीं चाहते थे कि समाज के भूमिहीन दलितों, गरीब किसानों और दस्तकार-कारीगरों के बच्चे पढ़ पायें। लेकिन फुले दम्पत्ति ने अपनी जान तक की परवाह नहीं की और अगले पाँच सालों में सत्रह और स्कूल खोल दिये। इस कार्य में फ़ातिमा शेख़ व उनके परिवार तथा और भी कई लोगों ने फुले दम्पत्ति का सहयोग किया। भारत में लम्बे समय तक दलितों, भूमिहीनों, ग़रीब किसानों व स्त्रियों को "शूद्र-अतिशूद्र" के नाम पर शिक्षा से वंचित रखा गया था। ज्योतिबा व सावित्रीबाई ने इसी कारण वंचितों की शिक्षा के लिए गम्भीर प्रयास शुरू किये। मनुस्मृति की घोषित शिक्षाबन्दी के विरूद्ध ये एक जोरदार विद्रोह था। जब सावित्रीबाई पढ़ाने के लिए जाती थी तो उनके झोले में एक अतिरिक्त साड़ी होती थी क्योंकि पहनी हुई साड़ी को रूढ़िवादी लोग ढेले, गोबर, कीचड़ आदि फेंक कर गन्दी कर देते थे। सभी बाधाओं को पार करते हुए सावित्रीबाई ने ज्ञान प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य बिना रुके निरन्तर जारी रखा। शिक्षा के क्षेत्र में इतना क्रान्तिकारी काम करने वाली सावित्रीबाई का जन्मदिवस ही असली शिक्षक दिवस होना चाहिए। पर ये विडम्बना है कि सर्वपल्ली राधाकृष्णन नामक ऐसे व्यक्ति का जन्मदिवस शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है जिस पर 'थीसिस' चोरी का आरोप है और जो वर्ण व्यवस्था का समर्थक था।

ज्योतिबा-सावित्रीबाई ने सिर्फ़ शिक्षा के प्रसार पर ही नहीं बल्कि प्राथमिक स्तर पर ही तार्किक और वैज्ञानिक शिक्षा पर भी बल दिया और अन्धविश्वासों के विरुद्ध जनता को शिक्षित किया। आज जब ज्योतिषशास्त्र जैसे विषयों को शिक्षा का अंग बनाने के प्रयास हो रहे हैं, तमाम सारी अतार्किक चीज़ें पाठ्यक्रमों में घोली जा रही हैं तो ऐसे में ज्योतिबा-सावित्री के संघर्ष का स्मरण करना ज़रूरी हो जाता है। उन्होंने शिक्षा का अपना 'प्रोजेक्ट', चाहे वो लड़कियों की पाठशाला हो या प्रौढ़ साक्षरता पाठशाला, सिर्फ़ जनबल के दम पर खड़ा किया और आगे बढ़ाया। अड़चनों व संकटों का सामना अत्यन्त बहादुरी से किया। ज्योतिबा ये भी समझने लगे थे कि अंग्रेज राज्यसत्ता भी दलितों और वंचितों की कोई हमदर्द नहीं है। उन्होंने किसान का कोड़ा में लिखा था कि अगर अंग्रेज अफ़सरशाही व ब्राह्मण सामन्तशाही की चमड़ी खुरच कर देखी जाये तो नीचे एक जैसा ही खून मिलेगा यानी दोनों के वर्गचरित्र में कोई अन्तर नहीं है। सावित्रीबाई ने पहले खुद सीखा व सामाजिक सवालों पर एक प्रगतिशील अवस्थिति अपनायी। ज्योतिबा की मृत्यु के बाद भी वह अन्तिम साँस तक जनता की सेवा करती रहीं। उन्होंने अन्तिम साँस प्लेगग्रस्त लोगों की सेवा करते हुए 10 मार्च 1897 को ली क्योंकि इस दौरान वे स्वयं प्लेग से संक्रमित हो गयी थी। अपना सम्पूर्ण जीवन मेहनतकशों, दलितों व स्त्रियों के लिए कुर्बान कर देने वाली ऐसी जुझारू महिला को हम क्रान्तिकारी सलाम पेश करते हैं व उनके सपनों को आगे ले जाने का संकल्प लेते हैं। देश की युवा पीढ़ी को उन जैसी हस्तियाँ सदैव प्रेरणा देती रहेंगी।

सावित्रीबाई के समय भी ज़्यादातर ग़रीब शिक्षा से वंचित थे और दलित उससे अतिवंचित थे। आज शिक्षा का पहले के मुकाबले ज़्यादा प्रसार हुआ है। पर फ़िर भी व्यापक ग़रीब आबादी आज भी इससे वंचित है और दलित अब भी अतिवंचित हैं। स्वतन्त्रता के बाद राज्ययसत्ता ने धीरे-धीरे शिक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी से हाथ खींच लिये और 1991 की निजीकरण, उदारीकरण की नीतियों के बाद तो उसे पूरी तरह बाज़ार के हवाले कर दिया है। सरकारी स्कूलों की दुर्गति; निजी स्कूलों व विश्वविद्यालयों के मनमाने नियमों व अत्यधिक आर्थिक शोषण के कारण पहले ही दूर रही शिक्षा; सामान्य गरीबों की क्षमता से बाहर ही चली गयी है। आज एक आम इंसान अपने बच्चों को डॉक्टर या इंजीनियर बनाना तो सपने में भी नहीं सोच सकता। हरियाणा में तो हालिया दिनों में डॉक्टरी की पढ़ाई यानी एमबीबीएस की चार साल की फ़ीस 40 लाख रुपये कर दी गयी है। आज़ादी के 70 साल बाद भी भारत में करोड़ों लोग निरक्षर हैं। आज विशेषकर उच्च शिक्षा सिर्फ़ अमीरों को ही मयस्सर है। रोज़गारपरक शिक्षा के दरवाज़े व्यापक जनता के लिए काफ़ी पहले ही बन्द हो चुके हैं! शिक्षा का अत्यन्त सृजनात्मक पेशा शिक्षा माफ़िया के लिए सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी के समान हो गया है। अनिवार्य शिक्षा, छात्रवृत्तियाँ व आरक्षण आज 'खेत में खड़े डरावे' की तरह हो गये हैं जिनका फ़ायदा ज़रूरतमन्दों को बहुत कम मिल पाता है। आज एक तरह फ़िर से तमाम जातियों के ग़रीबों व विशेषकर दलितों व अन्य वंचित तबकों से आने वालों पर नयी शिक्षाबन्दी फ़िर से थोप दी गयी है। कोरोना महामारी के इस दौर में हमने इस बात को और भी बेहतर ढंग से देखा कि कैसे ग़रीब जनता के बेटे-बेटियों को शिक्षा की पहुँच से दूर कर दिया गया। सावित्रीबाई को याद करते हुए हमें ये विचार करना होगा कि उनके शुरू किये संघर्ष की आज क्या प्रासंगिकता है। नयी शिक्षाबन्दी को तोड़ने के लिए सभी गरीबों-मेहनतकशों की एकजुटता का आह्वान कर सबके लिए निःशुल्क शिक्षा का संघर्ष हमें आगे बढ़ाना ही होगा। गुणवत्तापूर्ण-वैज्ञानिक शिक्षा हमारा अधिकार है और बिना जन-पहलकदमी के हम इसे हासिल नहीं कर सकते हैं। सार्विक शिक्षा के मुद्दे पर व्यापक जनान्दोलन खड़ा करना ही आज सावित्रीबाई फुले को हमारी सच्ची श्रद्धांजलि हो सकती है।

●

राहुल फ़ाउण्डेशन की तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें

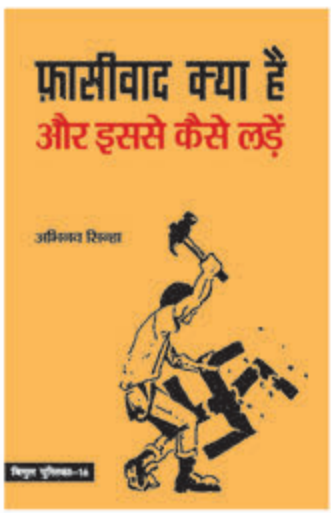

प्रस्तुत पुस्तक फ़ासीवाद के उभार के इतिहास और उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।
पृष्ठ : 240, मूल्य : 120 रुपये

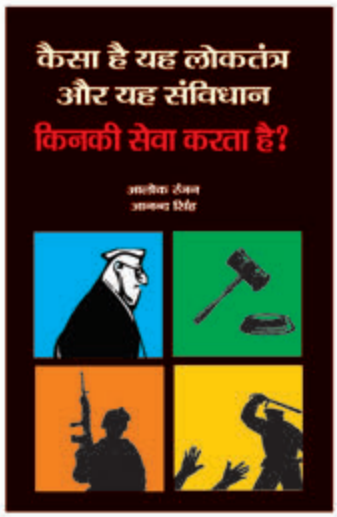

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति-सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।
पृष्ठ : 200, मूल्य : 150 रुपये

आनन-फ़ानन में लाये गये इन कृषि क़ानूनों से किसे लाभ होगा, किसे नुक़सान होगा? मौजूदा किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र क्या है? वे कौन से मुद्दे हैं जिन्हें लेकर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को इन क़ानूनों का विरोध करना चाहिए? क्या मज़दूर वर्ग इन क़ानूनों के मज़दूर व ग़रीब-विरोधी प्रावधानों का विरोध कृषि क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग, यानी धनी किसानों व कुलकों के मंच से कर सकता है? क्या इनके साथ मिलकर कोई फ़ासीवाद-विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है? यह पुस्तिका मार्क्सवादी नज़रिए से इन सवालों का विश्लेषण करती है।
पृष्ठ : 60, मूल्य : 40 रुपये

पुस्तकें मँगाने और सम्पूर्ण पुस्तक सूची देखने के लिए हमारे मुख्य वितरक से सम्पर्क करें :

जनचेतना

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : janchetna.books@gmail.com वेबसाइट : www.janchetnabooks.org

Muktikami Chhatron-Yuvaon ka Aahwan • November '20-February '21 • RNI NO- DELHIN/2008/26966

ख़त्म करो पूँजी का राज!
लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है– 'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,
स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928
ईमेल : *disha.du@gmail.com*